॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

श्री अष्टावक्र गीता
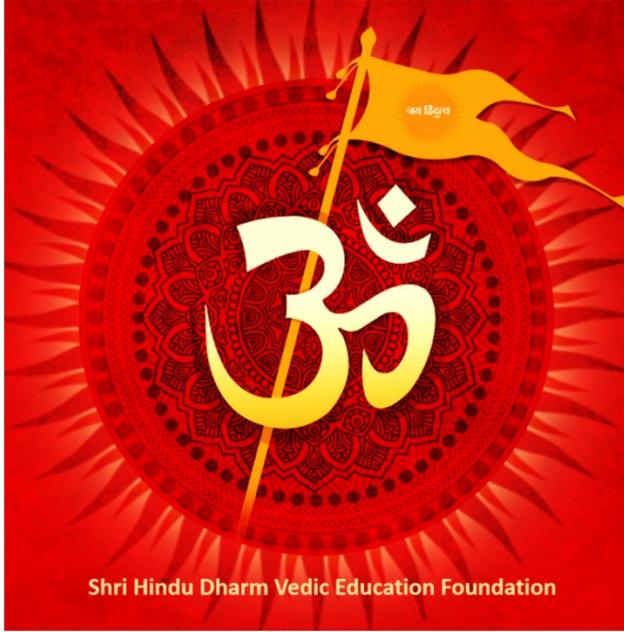
श्री अष्टावक्र गीता
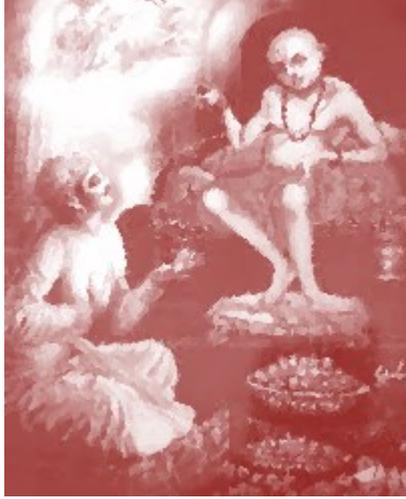
श्री प्रभु के चरणकमलों में समर्पित:

श्री मनीष त्यागी
संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

॥ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

॥ श्री हरि ॥

विषय सूची

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

पहला प्रकरण

जनक उवाच

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति ।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद् ब्रूहि मम प्रभो ॥ १-१॥

जनक ने कहा – ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ? मुक्ति कैसे होती है ? और वैराग्य कैसे प्राप्त होता है ? प्रभु ! यह मुझसे कहिये ॥१॥

अष्टावक्र उवाच ॥

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज ।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद् भज ॥ १-२॥

अष्टावक्र ने कहा – मुक्ति चाहता है तो विषयों को विष के समान छोड़ दे और क्षमा, दया, सरलता, सन्तोष और सत्य को अमृत के समान सेवन कर। ॥२॥

न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान् ।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये ॥ १-३॥

तू न पृथ्वी है, न जल है, न अग्नि है, न वायु है, न आकाश है । मुक्ति के लिए अपने को इन सबका साक्षी चैतन्यरूप जान। ॥३॥

यदि देहं पृथक् कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि ।
अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि ॥ १-४॥

यदि देह को अपने से अलग कर और चैतन्य में विश्राम कर स्थित है तो अभी ही सुखी, शान्त और बन्ध-मुक्त हो जाएगा। ॥४॥

न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः ।
असङ्गोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव ॥ १-५॥

तू ब्राह्मण आदि वर्ण नहीं है और न तू किसी आश्रम वाला है, न आँख आदि इन्द्रियों का विषय है । तू असंग, निराकार और विश्व का साक्षी है, ऐसा जानकर सुखी हो। ॥५॥

धर्माधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो ।
न कर्तासि न भोक्तासि मुक्त एवासि सर्वदा ॥ १-६॥

हे विभो ! धर्म और अधर्म, सुख और दुःख मन के हैं । तेरे लिए नहीं । तू न कर्ता है, न भोक्ता है । तू तो सर्वदा मुक्त ही है । ॥६॥

एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा ।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम् ॥ १-७॥

तू एक सबका द्रष्टा है और सदा ही मुक्त है । तेरा बन्धन यही है कि तू अपने को छोड़कर दूसरे को द्रष्टा देखता है। ॥७॥

अहं कर्तेत्यहंमानमहाकृष्णाहिदंशितः ।
नाहं कर्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव ॥ १-८॥

'मैं कर्ता हूँ', ऐसा अहंकाररूपी विशाल काले सर्प से दंशित हुआ तू, ' मैं कर्ता नहीं हूँ', ऐसे विश्वास रूपी अमृत को पीकर सुखी हो। ॥८॥

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना ।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव ॥ १-९॥

'मैं एक विशुद्ध बोध हूँ' ऐसी निश्चय रूपी अग्नि से गहन अज्ञान को जलाकर तू शोक रहित हुआ सुखी हो। ॥१॥

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत् ।
आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्वं सुखं भव ॥ १-१०॥

यहाँ यह विश्व रस्सी में सर्प के समान भासता है । यही आनन्द-परमानन्द रूपी बोध है । अतः तू सुखपूर्वक विचर । ॥१०॥

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि ।
किंवदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत् ॥ १-११॥

मुक्ति का अभिमानी मुक्त है, और बद्ध का अभिमानी बद्ध है । यहाँ यह किवदन्ती सत्य ही है कि जैसी मति वैसी ही गति होती है । ॥११॥

आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः ।
असङ्गो निःस्पृहः शान्तो भ्रमात्संसारवानिव ॥ १-१२॥

आत्मा साक्षी है, व्यापक है, पूर्ण है, एक है, मुक्त है, चैतन्यस्वरूप है, क्रियारहित है, असंग है, निस्पृह है, शान्त है । यह भ्रम से संसारी जैसा भासता है। ॥१२॥

कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय ।
आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं बाह्यमथान्तरम् ॥ १-१३॥

मैं अभासरूप हूँ' ऐसे भ्रम को एवं बाहर-भीतर के भाव को छोड़कर तू कूटस्थ बोधरूप एवं अद्वैत, आत्मा का विचार कर। ॥१३॥

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक ।
बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन तन्निकृत्य सुखी भव ॥ १-१४॥

हे पुत्र ! तू बहुत काल से देहाभिमान के पाश से बँधा हुआ है । उसी पाश को 'मैं बोध हूँ' इस ज्ञान की तलवार से काटकर तू सुखी हो । ॥१४॥

निःसङ्गो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरञ्जनः ।
अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठति ॥ १-१५॥

तू असंग है, क्रिया रहित है, स्वयंप्रकाश है और निरञ्जन है । तेरा बन्धन यही है कि तू समाधि के लिए अनुष्ठान करता है। ॥१५॥

त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः ।
शुद्धबुद्धस्वरूपस्त्वं मा गमः क्षुद्रचित्तताम् ॥ १-१६॥

यह संसार तुझमें व्याप्त है, तुझी में पिरोया है । यथार्थतः तू चैतन्यस्वरूप है । अतः क्षुद्रचित्त को मत प्राप्त हो। ॥१६॥

निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः ।
अगाधबुद्धिरक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः ॥ १-१७॥

तू निरपेक्ष, निर्विकार, स्वनिर्भर है । शान्ति और मुक्ति का स्थान है, अगाध बुद्धिरूप है, क्षोभ-शून्य है । अतः चैतन्यमात्र में निष्ठा वाला हो। ॥१७॥

साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम् ।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसम्भवः ॥ १-१८॥

साकार को मिथ्या जान, निराकार को निश्चल जान । इस तत्व के उपदेश से संसार में पुनः उत्पत्ति नहीं होती। ॥१८॥

यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः ।
तथैवाऽस्मिन् शरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः ॥ १-१९॥

जिस तरह दर्पण अपने में प्रतिबिम्बित रूप के भीतर और बाहर स्थित है । उसी प्रकार परमात्मा इस शरीर के भीतर और बाहर स्थित है। ॥१९॥

एकं सर्वगतं व्योम बहिरन्तर्यथा घटे ।
नित्यं निरन्तरं ब्रह्म सर्वभूतगणे तथा ॥ १-२०॥

जिस प्रकार सर्वव्यापी एक आकाश घट के भीतर और बाहर स्थित है, उसी तरह नित्य और निरन्तर ब्रह्म सब भूतों में स्थित है। ॥२०॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

दूसरा प्रकरण

जनक उवाच ॥

अहो निरञ्जनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः ।
एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडम्बितः ॥ २-१॥

जनक ने कहा – 'मैं निरञ्जन हूँ, शान्त हूँ, बोध हूँ, प्रकृति के परे हूँ, आश्चर्य है । किन्तु मैं इतने काल तक मोह के द्वारा ठगा गया हूँ । ॥१॥

यथा प्रकाशयाम्येको देहमेनं तथा जगत् ।
अतो मम जगत्सर्वमथवा न च किञ्चन ॥ २-२॥

जैसे इस देह को मैं अकेला ही प्रकाशित करता हूँ, वैसे ही संसार को भी प्रकाशित करता हूँ । इसलिए तो मेरा सम्पूर्ण संसार है अथवा कुछ भी नहीं । ॥२॥

स शरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाधुना ।
कुतश्चित् कौशलाद् एव परमात्मा विलोक्यते ॥ २-३॥

आश्चर्य है कि शरीर सहित विश्व को त्यागकर किसी कुशलता से ही अब मैं परमात्मा को देखता हूँ। ॥३॥

यथा न तोयतो भिन्नास्तरङ्गाः फेनबुद्बुदाः ।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम् ॥ २-४॥

जैसे जल से तरंग, फेन और बुदबुदा भिन्न नहीं है, वैसे ही विश्व आत्मा से भिन्न नहीं है किन्तु आत्मा से ही निकला हुआ है। ॥४॥

तन्तुमात्रो भवेद् एव पटो यद्वद् विचारितः ।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद् विश्वं विचारितम् ॥ २-५॥

जैसे विचार करने पर वस्त्र तन्तु मात्र ही होता है, वैसे ही विचार करने से यह संसार आत्मसत्ता मात्र ही है। ॥५॥

यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा ।
तथा विश्वं मयि क्लृप्तं मया व्याप्तं निरन्तरम् ॥ २-६॥

जैसे ईख के रस से बनी हुई शर्करा ईख के रस में व्याप्त है, वैसे ही मुझसे बना हुआ संसार मुझमें भी व्याप्त है। ॥६॥

आत्मज्ञानाज्जगद् भाति आत्मज्ञानान्न भासते ।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद् भासते न हि ॥ २-७॥

आत्मा के अज्ञान से संसार भासता है, आत्मा के ज्ञान नहीं भासता है । जैसे रस्सी के अज्ञान से सर्प भासता है, उसके अज्ञान से नहीं भासता है। ॥७॥

प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः ।
यदा प्रकाशते विश्वं तदाहं भास एव हि ॥ २-८॥

प्रकाश मेरा निजी स्वरूप है । मैं उससे भिन्न नहीं हूँ । जब संसार प्रकाशित होता है तब वह मेरे ही से प्रकाशित होता है । ॥८॥

अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते ।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा ॥ २-९॥

आश्चर्य है कि कल्पित संसार अज्ञान से मुझे ऐसा भासता है जैसे सीपी में चाँदी, रस्सी में साँप, सूर्य की किरणों में जल भासता है। ॥९॥

मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति ।
मृदि कुम्भो जले वीचिः कनके कटकं यथा ॥ २-१०॥

मुझसे उत्पन्न यह संसार मुझमें ही लय को प्राप्त होगा जैसे मिट्टी में घड़ा, जल में लहर और सोने में आभूषण लय होते हैं। ॥१०॥

अहो अहं नमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति मे ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगन्नाशोऽपि तिष्ठतः ॥ २-११॥

मैं आश्चर्यमय हूँ । मुझको नमस्कार है । ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त जगत के नाश होने पर भी मेरा नाश नहीं है। ॥११॥

अहो अहं नमो मह्यमेकोऽहं देहवानपि ।
क्वचिन्न गन्ता नागन्ता व्याप्य विश्वमवस्थितः ॥ २-१२॥

मैं आश्चर्यमय हूँ । मुझको नमस्कार है । मैं देहधारी होते हुए भी अद्वैत हूँ । न कहीं जाता हूँ, न आता हूँ और विश्व में व्याप्त हुआ स्थित हूँ। ॥१२॥

अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः ।
असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम् ॥ २-१३॥

मैं आश्चर्यमय हूँ । मुझको नमस्कार है । इस संसार में मेरे समान निपुण कोई नहीं । क्योंकि शरीर को स्पर्श किये बिना ही इस विश्व को सदा धारण किये रहता हूँ। ॥१३॥

अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
अथवा यस्य मे सर्वं यद् वाङ्मनसगोचरम् ॥ २-१४॥

मैं आश्चर्यमय हूँ । मुझको नमस्कार है । मेरा कुछ भी नहीं है, अथवा मेरा सब कुछ है – जो मन और वाणी का विषय है। ॥१४॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम् ।
अज्ञानाद् भाति यत्रेदं सोऽहमस्मि निरञ्जनः ॥ २-१५॥

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ये तीनों यथार्थ नहीं हैं । जहाँ ये तीनों अज्ञान से ही भासते हैं ।मैं वही निरञ्जन हूँ। ॥१५॥

द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्याऽस्ति भेषजम् ।
दृश्यमेतन् मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोमलः ॥ २-१६॥

अहो ! दुःख का मूल द्वैत है, उसकी औषधि अन्य कोई नहीं । यह सब दृश्य मिथ्या है । मैं एक विशुद्ध चैतन्यरस हूँ। ॥१६॥

बोधमात्रोऽहमज्ञानाद् उपाधिः कल्पितो मया ।
एवं विमृशतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम ॥ २-१७॥

मैं बोधमात्र हूँ । किन्तु मेरे द्वारा अज्ञान से उपाधि की कल्पना की गई है । इस प्रकार नित्य विचार करते हुए मैं निर्विकल्प में स्थित हूँ। ॥१७॥

न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रान्तिः शान्तो निराश्रया ।
अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम् ॥ २-१८॥

आश्चर्य है ! मुझमें स्थित हुआ विश्व वास्तव में मुझमें स्थित नहीं है । इसलिए न मेरा बन्ध है, न मोक्ष। ॥१८॥

सशरीरमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चितम् ।
शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन् कल्पनाधुना ॥ २-१९॥

निश्चय ही शरीरयुक्त यह विश्व कुछ भी नहीं है । यह शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा है तो इसकी कल्पना ही किसमें है। ॥१९॥

शरीरं स्वर्गनरकौ बन्धमोक्षौ भयं तथा ।
कल्पनामात्रमेवैतत् किं मे कार्यं चिदात्मनः ॥ २-२०॥

यह शरीर, स्वर्ग, नरक, बन्ध, मोक्ष व भय कल्पना मात्र ही हैं । उससे मुझ चैतन्य आत्मा को क्या प्रयोजन ।२०।

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम ।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम् ॥ २-२१॥

आश्चर्य है कि जन समूह में भी मुझे द्वैत दिखाई नहीं देता है । यह अरण्यवत् हो गया है तो फिर मैं किससे प्रेम करूँ। ॥२१॥

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित् ।
अयमेव हि मे बन्ध आसीद्या जीविते स्पृहा ॥ २-२२॥

न मैं शरीर हूँ, न मेरा शरीर है, मैं जीव नहीं हूँ, निश्चय ही मैं चैतन्यमात्र हूँ । मेरा यही बन्ध था कि मेरी जीने की इच्छा थी। ॥२२॥

अहो भुवनकल्लोलैर्विचित्रैर्द्राक् समुत्थितम् ।
मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते ॥ २-२३॥

आश्चर्य की अनन्त समुद्ररूप मुझमें चित्तरूपी हवा के उठने पर शीघ्र ही विचित्र जगतरूपी तरंगें पैदा होती हैं । ॥२३॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति ।
अभाग्याज्जीववणिजो जगत्पोतो विनश्वरः ॥ २-२४॥

अनन्त महासागररूप मुझ में चित्तरूप वायु के शान्त होने पर जीवरूप व्यापारी के अभाग्य से जगत रूपी नौका नाश को प्राप्त होती है। ॥२४॥

मय्यनन्तमहाम्भोधावाश्चर्यं जीववीचयः ।
उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः ॥ २-२५॥

आश्चर्य है कि अनन्त महासागररूप मुझमें जीवरूप तरंगें उठती हैं, परस्पर संघर्ष करती हैं, खेलती हैं तथा स्वभाव से ही लय हो जाती हैं। ॥२५॥

॥ श्री हरि: ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

तीसरा प्रकरण

अष्टावक्र उवाच ॥

अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः ।
तवात्मज्ञानस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः ॥ ३-१॥

अष्टावक्र कहते हैं – आत्मा को तत्वतः एक और अविनाशी जानकर भी तुझ आत्मज्ञानी धीर को धन कमाने में आसक्ति क्यों है। ॥१॥

आत्माज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे ।
शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे ॥ ३-२॥

आश्चर्य कि आत्मा के अज्ञान से विषय का भ्रम होने पर वैसी ही प्रीति होती है जैसी सीपी के अज्ञान से चाँदी की भ्रान्ति में लोभ होता है। ॥२॥

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरङ्गा इव सागरे ।
सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि ॥ ३-३॥

जहाँ यह विश्व आत्मा में समुद्र में तरंग के समान स्फुरित होता है, 'वही मैं हूँ', ऐसा जानकर क्यों तू दीन की तरह दौड़ता है। ॥३॥

श्रुत्वापि शुद्धचैतन्य आत्मानमतिसुन्दरम् ।
उपस्थेऽत्यन्तसंसक्तो मालिन्यमधिगच्छति ॥ ३-४॥

आत्मा को शुद्ध चैतन्य व अति सुन्दर सुनकर भी कैसे कोई इन्द्रिय के विषय में अत्यन्त आसक्त होकर मलिनता को प्राप्त होता है। ॥४॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
मुनेर्जानत आश्चर्यं ममत्वमनुवर्तते ॥ ३-५॥

सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को जानकर भी मुनि को ममता होती है । यही आश्चर्य है। ॥५॥

आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः ।
आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया ॥ ३-६॥

परम अद्वैत में स्थित हुआ और मोक्ष के लिए भी उद्यत हुआ पुरुष काम के वश होकर क्रीड़ा के अभ्यास से व्याकुल होता है । यही आश्चर्य है। ॥६॥

उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रमवधार्यातिदुर्बलः ।
आश्चर्यं काममाकाङ्क्षेत् कालमन्तमनुश्रितः ॥ ३-७॥

काम को उद्भूत ज्ञान का शत्रु जानकर भी अति दुर्बल और अन्तकाल को प्राप्त हुआ पुरुष काम भोग की इच्छा करता है । यही आश्चर्य है। ॥७॥

इहामुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः ।
आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षाद् एव विभीषिका ॥ ३-८॥

जो इहलोक और परलोक के भोग से विरक्त है और जो नित्य और अनित्य का विवेक रखता है वह भी मोक्ष से भय करता है । यही आश्चर्य है। ॥८॥

धीरस्तु भोज्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि सर्वदा ।
आत्मानं केवलं पश्यन् न तुष्यति न कुप्यति ॥ ३-९॥

धीर पुरुष तो भोगता हुआ भी और पीड़ित होता हुआ भी नित्य केवल आत्मा को देखता हुआ न प्रसन्न होता है, न क्रुद्ध होता है। ॥९॥

चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत् ।
संस्तवे चापि निन्दायां कथं क्षुभ्येत् महाशयः ॥ ३-१०॥

जो अपने चेष्टारत शरीर को दूसरे के शरीर की भाँति देखता है, वह महाशय पुरुष स्तुति और निन्दा में भी कैसे क्षोभ को प्राप्त हो सकता है। ॥१०॥

मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगतकौतुकः ।
अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः ॥ ३-११॥

जो इस विश्व को मायामात्र देखता है, और जो आश्चर्य को पार कर गया है, वह धीर पुरुष मृत्यु के आने पर भी क्यों भयभीत होता है। ॥११॥

निःस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः ।
तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते ॥ ३-१२॥

जिस महात्मा का मन नैराश्य में भी स्पृहा नहीं रखता, उस आत्मज्ञान से तृप्त पुरुष की तुलना किससे की जाए। ॥१२॥

स्वभावाद् एव जानानो दृश्यमेतन्न किञ्चन ।
इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः ॥ ३-१३॥

जो जानता है कि यह दृश्य स्वभाव से ही कुछ नहीं है, वह धीर बुद्धि कैसे देख सकता है कि यह ग्रहण करने योग्य है और यह त्यागने योग्य। ॥१३॥

अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः ।
यदृच्छयागतो भोगो न दुःखाय न तुष्टये ॥ ३-१४॥

जिसने अन्तःकरण के कषाय को त्याग दिया है, और जो द्वन्द्वरहित और आशारहित है । ऐसे पुरुष को दैवयोग से प्राप्त भोगों में न दुःख है, सुख। ॥१४॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

चौथा प्रकरण

जनक उवाच ॥

हन्तात्मज्ञानस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया ।
न हि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानता ॥ ४-१॥

हन्त ! भोग-विलास के साथ खेलते हुए आत्मज्ञानी धीर पुरुष की बराबरी संसार को सिर पर ढोने वाले मूढ़ पुरुषों के साथ कैसे की जा सकती है। ॥१॥

यत् पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः ।
अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति ॥ ४-२॥

जिस पद की इच्छा करते हुए इन्द्रादि सम्पूर्ण देवता दीन हो रहे हैं, उस पर स्थित हुआ भी योगी हर्ष को प्राप्त नहीं होता । यही आश्चर्य है । ॥२॥

तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शो ह्यन्तर्न जायते ।
न ह्याकाशस्य धूमेन दृश्यमानापि सङ्गतिः ॥ ४-३॥

उस पद को जानने वाले के अन्तःकरण का स्पर्श वैसे ही पुण्य और पाप के साथ नहीं होता जैसे आकाश का सम्बन्ध भासता हुआ भी धुएँ के साथ नहीं होता। ॥३॥

आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना ।
यदृच्छया वर्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः ॥ ४-४॥

जिस महात्मा ने इस सम्पूर्ण जगत को आत्मा की तरह जान लिया है, उस ज्ञानी को अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करने से कौन रोक सकता है। ॥४॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे ।
विज्ञस्यैव हि सामर्थ्यमिच्छानिच्छाविवर्जने ॥ ४-५॥

ब्रह्मा से चींटी पर्यन्त चार प्रकार के जीवों के समूह में ज्ञानी को ही इच्छा और अनिच्छा को रोकने की सामर्थ्य है। ॥५॥

आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानाति जगदीश्वरम् ।
यद् वेत्ति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित् ॥ ४-६॥

कोई विरला ही आत्मा को अद्वय और जगदीश्वर रूप में जानता है । वह जिसे करने योग्य मानता है उसे करता है । उसे किसी प्रकार का भय नहीं। ॥६॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

पाँचवाँ प्रकरण

अष्टावक्र उवाच ॥

न ते सङ्गोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि ।
सङ्घातविलयं कुर्वन्नेवमेव लयं व्रज ॥ ५-१॥

तेरा किसी से भी संग नहीं है, इसलिए तू शुद्ध है, फिर किसको त्यागना चाहता है । इस प्रकार देहभमान के त्याग की इच्छा करके लय को प्राप्त हो। ॥१॥

उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः ।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज ॥ ५-२॥

तुझसे संसार उत्पन्न होता है, जैसे समुद्र से बुलबुला । इस प्रकार आत्मा को एक जानकर मोक्ष को प्राप्त हो। ॥२॥

प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद् विश्वं नास्त्यमले त्वयि ।
रज्जुसर्प इव व्यक्तमेवमेव लयं व्रज ॥ ५-३॥

दृश्यमान जगत प्रत्यक्ष होता हुआ भी रज्जु सर्प की भाँति तुझ शुद्ध के लिए नहीं है । इसलिए तू मोक्ष को प्राप्त हो। ॥३॥

समदुःखसुखः पूर्ण आशानैराश्ययोः समः ।
समजीवितमृत्युः सन्नेवमेव लयं व्रज ॥ ५-४॥

दुःख और सुख जिसके लिए समान है, जो पूर्ण है, जो आशा और निराशा में समान है, जीवन और मृत्यु में समान है । ऐसा होकर तू मोक्ष को प्राप्त हो। ॥४॥

॥ श्री हरि: ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

छठा प्रकरण

जनक उवाच ॥

आकाशवदनन्तोऽहं घटवत् प्राकृतं जगत् ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ ६-१॥

मैं आकाश की भाँति अनन्त हूँ । यह संसार घड़े की भाँति प्रकृतिजन्य है, ऐसा ज्ञान है । इसलिए न इसका त्याग है, न ग्रहण और न लय है। ॥१॥

महोदधिरिवाहं स प्रपञ्चो वीचिसऽन्निभः ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ ६-२॥

मैं समुद्र के समान हूँ, यह संसार तरंगों के समान है, ऐसा ज्ञान है । इसलिए न इसका त्याग है, न ग्रहण और न इसका लय है। ॥२॥

अहं स शुक्तिसङ्काशो रूप्यवद् विश्वकल्पना ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ ६-३॥

मैं सीपी के समान हूँ, विश्व की कल्पना चाँदी के समान है । ऐसा ज्ञान है । अतएव इसका न त्याग है, न ग्रहण है और न लय है। ॥३॥

अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ ६-४॥

मैं निश्चित ही सब भूतों में हूँ और ये सब भूत मुझमें हैं । ऐसा ज्ञान है । इसलिए इसका न त्याग है, न ग्रहण है और न लय है। ॥४॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

सातवाँ प्रकरण

जनक उवाच ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः ।
भ्रमति स्वान्तवातेन न ममास्त्यसहिष्णुता ॥ ७-१॥

मुझ अन्तहीन महासमुद्र में विश्वरूपी नाव अपनी ही प्रकृत वायु से इधर-उधर डोलती है । मुझे असहिष्णुता नहीं है। ॥१॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः ।
उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न च क्षतिः ॥ ७-२॥

मुझ अन्तहीन महासमुद्र में जगतरूपी लहर स्वभाव से उदय हो, चाहे मिठे । मेरी न वृद्धि है, न हानि। ॥२॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वं नाम विकल्पना ।
अतिशान्तो निराकार एतदेवाहमास्थितः ॥ ७-३॥

मुझ अन्तहीन महासमुद्र में निश्चय ही संसार कल्पनामात्र है । मैं अत्यन्त शान्त हूँ, निराकार हूँ और इसी अवस्था में स्थित हूँ। ॥३॥

नात्मा भावेषु नो भावस्तत्रानन्ते निरञ्जने ।
इत्यसक्तोऽस्पृहः शान्त एतदेवाहमास्तितः ॥ ७-४॥

आत्मा विषयों में नहीं है और विषय उस अनन्त निरञ्जन आत्मा में नहीं है । इस प्रकार मैं अनासक्त हूँ, स्पृहामुक्त हूँ, और इसी अवस्था में स्थित हूँ। ॥४॥

अहो चिन्मात्रमेवाहमिन्द्रजालोपमं जगत् ।
इति मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥ ७-५॥

अहो ! मैं चैतन्यमात्र हूँ । संसार इन्द्रजाल की भाँति है । तब मेरी हेय और उपादेय की कल्पना किसमें हो। ॥५॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

आठवां प्रकरण

अष्टावक्र उवाच ॥

तदा बन्धो यदा चित्तं किञ्चिद् वाञ्छति शोचति ।
किञ्चिन् मुञ्चति गृण्हाति किञ्चिद् दृष्यति कुप्यति ॥ ८-१॥

जब चित्त कुछ चाहता है, कुछ सोचता है, कुछ त्याग करता है, कुछ ग्रहण करता है, जब दुःखी और सुखी होता है – तब बन्ध है। ॥१॥

तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वाञ्छति न शोचति ।
न मुञ्चति न गृण्हाति न हृष्यति न कुप्यति ॥ ८-२॥

जब मन न चाह करता है, न सोचता है, न त्यागता है, न ग्रहण करता है, जब यह न सुखी होता है, न दुखी होता है – तभी मुक्त है। ॥२॥

तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं काश्वपि दृष्टिषु ।
तदा मोक्षो यदा चित्तमसक्तं सर्वदृष्टिषु ॥ ८-३॥

जब चित्त किसी दृष्टि अथवा विषय में लगा है तब बन्ध है और चित्त जब सब दृष्टियों से अनासक्त है तब मोक्ष है। ॥३॥

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा ।
मत्वेति हेलया किञ्चिन्मा गृहाण विमुञ्च मा ॥ ८-४॥

जब तक 'मैं' है तब तक बन्ध है, जब 'मैं' नहीं है तब मोक्ष है । इस प्रकार का विचारकर, न इच्छा कर, न ग्रहण कर, न त्याग कर। ॥४॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

नवाँ प्रकरण

अष्टावक्र उवाच ॥

कृताकृते च द्वन्द्वानि कदा शान्तानि कस्य वा ।
एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद् भव त्यागपरोऽव्रती ॥ ९-१॥

कृत्य-अकृत्य और द्वन्द्व किसके कब शान्त हुए हैं । इस प्रकार निश्चिन्त जानकर इस संसार से निर्वेद होकर त्याग और अव्रती हो। ॥१॥

कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात् ।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमः गताः ॥ ९-२॥

हे तात ! लोक की चेष्टा को देखकर किसी भाग्यशाली की ही जीने की कामना, भोगने की वासना और ज्ञान की इच्छा शान्त हुई है। ॥२॥

अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम् ।
असारं निन्दितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति ॥ ९-३॥

यह सब अनित्य है, तीनों तापों से दूषित है, सारहीन है, निन्दित है, हेय है । ऐसा निश्चित होने पर शान्ति प्राप्त होती है । ॥३॥

कोऽसौ कालो वयः किं वा यत्र द्वन्द्वानि नो नृणाम् ।
तान्युपेक्ष्य यथाप्राप्तवर्ती सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ९-४॥

वह कौन सा काल है व कौन सी अवस्था है जिसमें मनुष्य को द्वन्द्व न हों । उनकी उपेक्षा कर यथाप्राप्य वस्तुओं में संतोष करने वाला मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है। ॥४॥

नाना मतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा ।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः ॥ ९-५॥

महर्षियों के, योगियों के एवं साधुओं के अनेक मत हैं । ऐसा देखकर उपेक्षा को प्राप्त हुआ कौन मनुष्य शान्ति को प्राप्त नहीं होता । ॥५॥

कृत्वा मूर्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किं गुरुः ।
निर्वेदसमतायुक्त्या यस्तारयति संसृतेः ॥ ९-६॥

जो उपेक्षा, समता और युक्ति के द्वारा चैतन्य के सच्चे स्वरूप को जानकर संसार में अपने को तारता है, क्या वह गुरु नहीं है । ॥६॥

पश्य भूतविकारांस्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः ।
तत्क्षणाद् बन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि ॥ ९-७॥

जब भूत-विकारों को तू यथार्थतः भूतमात्र देखेगा – उसी क्षण बन्ध से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाएगा । ॥७॥

वासना एव संसार इति सर्वा विमुञ्च ताः ।
तत्त्यागो वासनात्यागात्स्थितिरद्य यथा तथा ॥९-८॥

वासना ही संसार है इसलिये इन सबका त्यागकर । वासना के त्याग से ही संसार का त्याग है । अब जहाँ चाहे वहाँ रह। ॥८॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

दसवाँ प्रकरण

अष्टावक्र उवाच ॥

विहाय वैरिणं काममर्थं चानर्थसङ्कुलम् ।
धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु ॥ १०-१॥

वैर स्वरूप काम को और अनर्थ से भरे अर्थ को त्यागकर और दोनों के कारण-रूप धर्म को भी छोड़कर तू सबकी उपेक्षा कर। ॥१॥

स्वप्नेन्द्रजालवत् पश्य दिनानि त्रीणि पञ्च वा ।
मित्रक्षेत्रधनागारदारदायादिसम्पदः ॥ १०-२॥

मित्र, खेत, धन, मकान, स्त्री, भाई आदि सम्पदा को तू स्वप्न और इन्द्रजाल के समान देख जो तीन या पाँच दिन ही टिकते हैं । ॥२॥

यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै ।
प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव ॥ १०-३॥

जहाँ-जहाँ तृष्णा हो वहाँ-वहाँ ही संसार जान । प्रौढ़ वैराग्य को आश्रय करके वीततृष्णा होकर सुखी हो। ॥३॥

तृष्णामात्रात्मको बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः ॥ १०-४॥

तृष्णामात्र ही आत्मा का बन्ध है और उसका नाश मोक्ष कहा जाता है । संसार मात्र से अनासक्त होने से निरन्तर प्राप्ति और तुष्टि होती है। ॥४॥

त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जडं विश्वमसत्तथा ।
अविद्यापि न किञ्चित्सा का बुभुत्सा तथापि ते ॥ १०-५॥

तू एक शुद्ध चैतन्य है, संसार जड़ और असत् है । यह अविद्या भी असत् है । इस पर भी तू क्या जानने की इच्छा रखता है। ॥५॥

राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च ।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि ॥ १०-६॥

तेरे राज्य, पुत्र, पुत्रियाँ, शरीर और सुख जन्म-जन्म से नष्ट हुए हैं, यद्यपि तू उनमें आसक्त था। ॥६॥

अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा ।
एभ्यः संसारकान्तारे न विश्रान्तमभून् मनः ॥ १०-७॥

अर्थ, काम और सुकृत कर्म बहुत हो चुके । इनमें भी संसाररूपी जंगल में मन विश्रान्ति को प्राप्त नहीं हुआ। ॥७॥

कृतं न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा ।
दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम् ॥ १०-८॥

कितने जन्मों तक तूने क्या शरीर, मन और वाणी के दुखपूर्ण और श्रमपूर्ण कर्म नहीं किये हैं । अब तो आराम कर। ॥८॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

ग्यारहवाँ प्रकरण

अष्टावक्र उवाच ॥

भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी ।
निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति ॥ ११-१॥

भाव और अभाव का विकार स्वभाव से होता है ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह निर्विकार और क्लेशरहित पुरुष सुखपूर्वक ही शान्ति को उपलब्ध होता है। ॥१॥

ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी ।
अन्तर्गलितसर्वाशः शान्तः क्वापि न सज्जते ॥ ११-२॥

सबको बनाने वाले ईश्वर हैं अन्य कोई नहीं है, ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है वह पुरुष शान्त है । उसकी सब आशाएँ जड़ से नष्ट हो गयी हैं । वह कहीं भी आसक्त नहीं होता। ॥२॥

आपदः सम्पदः काले दैवादेवेति निश्चयी ।
तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं न वान्छति न शोचति ॥ ११-३॥

विपत्ति और सम्पत्ति दैवयोग से ही समय पर आती है, ऐसा निश्चय वाला पुरुष सदा सन्तुष्ट हुआ, न कोई कामना करता है, न शोक करता है। ॥३॥

सुखदुःखे जन्ममृत्यू दैवादेवेति निश्चयी ।
साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ११-४॥

सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु दैवयोग से ही होती है, ऐसा निश्चय वाला व्यक्ति साध्य कर्मों को देखता हुआ और निरायास कर्मों को करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता। ॥४॥

चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेति निश्चयी ।
तया हीनः सुखी शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः ॥ ११-५॥

चिन्ता से दुःख उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं । ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह सुखी और शान्त है । सर्वत्र उसकी स्पृहा गलित है और चिन्ता से मुक्त है। ॥५॥

नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी ।
कैवल्यमिव सम्प्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥ ११-६॥

मैं शरीर नहीं हूँ, देह मेरी नहीं है, मैं तो बोधस्वरूप हूँ, ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है वह पुरुष कैवल्य को प्राप्त होकर किये और अनकिये कर्म का स्मरण नहीं करता। ॥६॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमहमेवेति निश्चयी ।
निर्विकल्पः शुचिः शान्तः प्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः ॥ ११-७॥

ब्रह्म से लेकर तृणपर्यन्त 'मैं ही हूँ' ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह निर्विकार, शुद्ध, शान्त और प्राप्त-अप्राप्त से निवृत्त होता है। ॥७॥

नाश्चर्यमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी ।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति ॥ ११-८॥

अनेक आश्चर्यों वाला वह विश्व कुछ भी नहीं है अर्थात मिथ्या है ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह वासनारहित, बोधस्वरूप पुरुष इस प्रकार शान्ति को प्राप्त होता है, मानो कुछ भी नहीं है । ॥८॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

बारहवाँ प्रकरण

जनक उवाच ॥

कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः ।
अथ चिन्तासहस्तस्माद् एवमेवाहमास्थितः ॥ १२-१॥

जनक ने कहा – "पहले मैं शारीरिक कर्मों का न सराहने वाला हुआ, फिर वाणी के विस्तृत कर्म का न सराहने वाला हुआ । इस प्रकार मैं स्थिर हूँ"। ॥१॥

प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः ।
विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः ॥ १२-२॥

शब्द आदि ऐन्द्रिक विषयों के प्रति राग के अभाव से और आत्मा की अदृश्यता से प्राप्त विक्षेपों से जिसका मन मुक्त होकर एकाग्र हो गया – ऐसा ही मैं स्थित हूँ। ॥२॥

समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये ।
एवं विलोक्य नियममेवमेवाहमास्थितः ॥ १२-३॥

सम्यक् अध्यास आदि के कारण विक्षेप होने पर ही समाधि का व्यवहार होता है । ऐसे नियम को देखकर मैं स्थित हूँ। ॥३॥

हेयोपादेयविरहाद् एवं हर्षविषादयोः ।
अभावादद्य हे ब्रह्मन् एवमेवाहमास्थितः ॥ १२-४॥

हे ब्रह्मन् ! हेय और उपादेय के के वियोग से जो हर्ष और विषाद होता है उसके अभाव में अब मैं जैसा हूँ वैसा ही स्थित हूँ। ॥४॥

आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनम् ।
विकल्पं मम वीक्ष्यैतैरेवमेवाहमास्थितः ॥ १२-५॥

आश्रम एवं अनाश्रम है, ध्यान है तथा चित्त का स्वीकार और वर्जन है । उन सबसे उत्पन्न हुए अपने विकल्प को देखकर मैं उन तीनों से मुक्त हुआ स्थित हूँ। ॥५॥

कर्मानुष्ठानमज्ञानाद् यथैवोपरमस्तथा ।
बुध्वा सम्यगिदं तत्त्वमेवमेवाहमास्थितः ॥ १२-६॥

जैसे कर्म का अनुष्ठान अज्ञान से है, वैसे ही उसके त्याग का अनुष्ठान भी अज्ञान से है । इस तत्व को भली भाँति जानकर मैं कर्म अकर्म से मुक्त हुआ अपने में स्थित हूँ। ॥६॥

अचिन्त्यं चिन्त्यमानोऽपि चिन्तारूपं भजत्यसौ ।
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्माद् एवमेवाहमास्थितः ॥ १२-७॥

अचिन्त्य का चिन्तन करता हुआ भी वह पुरुष चिन्ता को ही भजता है । इसलिए उस भाव को त्यागकर मैं भावनामुक्त हुआ स्थित हूँ। ॥७॥

एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ ।
एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ ॥ १२-८॥

जिसने साधनों से क्रियारहित स्वरूप अर्जित किया है – वह पुरुष कृतकृत्य है और जो ऐसा ही स्वभाव वाला है वह तो कृतकृत्य है ही, इसमें कहना ही क्या। ॥८॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

तेरहवाँ प्रकरण

जनक उवाच ॥

अकिञ्चनभवं स्वास्थं कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम् ।
त्यागादाने विहायास्मादहमासे यथासुखम् ॥ १३-१॥

नहीं है कुछ भी – ऐसे भाव से पैदा हुआ जो स्वास्थ्य है वह कोपीन को धारण करने पर भी दुर्लभ है । इसलिए त्याग और ग्रहण दोनों को छोड़कर मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ। ॥१॥

कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खेद्यते ।
मनः कुत्रापि तत्त्यक्त्वा पुरुषार्थे स्थितः सुखम् ॥ १३-२॥

कहीं तो शरीर का दुःख है, कहीं वाणी दुःखी है, कहीं मन दुःखी होता है । इसलिए तीनों को त्यागकर मैं पुरुषार्थ में सुखपूर्वक स्थित हूँ। ॥२॥

कृतं किमपि नैव स्याद् इति सञ्चिन्त्य तत्त्वतः ।
यदा यत्कर्तुमायाति तत् कृत्वासे यथासुखम् ॥ १३-३॥

किया हुआ कर्म कुछ भी वास्तव में आत्मकृत नहीं होता । ऐसा यथार्थ विचारकर मैं जब जो कुछ कर्म करने को आ पड़ता है उसे करके सुखपूर्वक स्थित हूँ। ॥३॥

कर्मनैष्कर्म्यनिर्बन्धभावा देहस्थयोगिनः ।
संयोगायोगविरहादहमासे यथासुखम् ॥ १३-४॥

कर्म और निष्कर्म के बन्धन से संयुक्त भाव वाले शरीर में आसक्त जो योगी है मैं इस देह के संयोग वियोग से सर्वदा पृथक होने के कारण सुखपूर्वक स्थित हूँ। ॥४॥

अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या न शयनेन वा ।
तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् तस्मादहमासे यथासुखम् ॥ १३-५॥

मुझको ठहरने से, चलने से या सोने से अर्थ या अनर्थ कुछ भी नहीं है । इस कारण 'मैं' ठहरता हुआ, जाता हुआ और सोता हुआ भी सुखपूर्वक स्थित हूँ। ॥५॥

स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा ।
नाशोल्लासौ विहायास्मदहमासे यथासुखम् ॥ १३-६॥

सोते हुए मुझे हानि नहीं है, न यत्न करते हुए मुझे सिद्धि है । इसलिए मैं हानि-लाभ दोनों को छोड़कर सुखपूर्वक स्थित हूँ । ॥६॥

सुखादिरूपा नियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः ।

शुभाशुभे विहायास्मादहमासे यथासुखम् ॥ १३-७॥

इसलिए अनेक परिस्थितियों में सुखादि की अनित्यता को बारम्बार देखकर और शुभ और अशुभ दोनों को छोड़कर मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ। ॥७॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

चौदहवाँ प्रकरण

जनक उवाच ॥

प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाद् भावभावनः ।
निद्रितो बोधित इव क्षीणसंस्मरणो हि सः ॥ १४-१॥

जो स्वभाव से ही शून्य चित्त है पर प्रमाद से विषयों की भावना करता है और सोता हुआ भी जागने के समान है – वह पुरुष संसार से मुक्त है। ॥१॥

क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः ।
क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा ॥ १४-२॥

जब मेरी स्पृहा नष्ट हो गयी तब मेरे लिए कहाँ धन, कहाँ मित्र, कहाँ विषयीरूप चोर, कहाँ शास्त्र और कहाँ ज्ञान है। ॥२॥

विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे ।
नैराश्ये बन्धमोक्षे च न चिन्ता मुक्तये मम ॥ १४-३॥

साक्षी पुरुष, परमात्मा, ईश्वर, आशा-मुक्ति तथा बन्ध-मुक्ति के जान लेने पर मुझे मुक्ति के लिए चिन्ता नहीं है। ॥३ \॥

अन्तर्विकल्पशून्यस्य बहिः स्वच्छन्दचारिणः ।
भ्रान्तस्येव दशास्तास्तास्तादृशा एव जानते ॥ १४-४॥

जो भीतर विकल्प से शून्य है और बाहर भ्रान्त हुए पुरुष की भाँति स्वछन्दचारी है । ऐसे पुरुष की भिन्न-भिन्न दशाओं को वैसी ही दशा वाले पुरुष जानते हैं। ॥४॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

पंद्रहवाँ प्रकरण

अष्टावक्र उवाच ॥

यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्त्वबुद्धिमान् ।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति ॥ १५-१॥

अष्टावक्र कहते हैं – "सत्व बुद्धि वाला पुरुष थोड़े से उपदेश से ही कृतार्थ होता है । असत् बुद्धि वाला पुरुष आजीवन जिज्ञासा करके उसमें मोह को ही प्राप्त होता है"। ॥१॥

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः ।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १५-२॥

विषयों में विरसता मोक्ष है, विषयों में रस बन्ध है । इतना ही विज्ञान है । तू जैसा चाहे वैसा कर। ॥२॥

वाग्मिप्राज्ञामहोद्योगं जनं मूकजडालसम् ।
करोति तत्त्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षभिः ॥ १५-३॥

यह तत्व बोध वाचाल, बुद्धिमान और महाउद्योगी पुरुष को गूँगा, जड़ और आलसी कर जाता है । इसलिए भोग की अभिलाषा रखने वालों के द्वारा तत्व-बोध त्यक्त है। ॥३॥

न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्ता न वा भवान् ।
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर ॥ १५-४॥

तू शरीर नहीं है, न तेरा शरीर है, तू भोक्ता और कर्ता भी नहीं है । तू वो चैतन्यरूप है, नित्य है, साक्षी है, निरपेक्ष है । तू सुखपूर्वक विचर। ॥४॥

रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन ।
निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर ॥ १५-५॥

राग और द्वेष मन के धर्म हैं । तू कभी मन नहीं है । तू निर्विकल्प, निर्विकार, बोध-स्वरूप आत्मा है । तू सुखपूर्वक विचर। ॥५॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
विज्ञाय निरहङ्कारो निर्ममस्त्वं सुखी भव ॥ १५-६॥

सब भूतों में आत्म को तथा सब भूतों में आत्मा को जानकर तू अहँकाररहित और ममता रहित है । तू सुखी हो। ॥६॥

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरङ्गा इव सागरे ।
तत्त्वमेव न सन्देहश्चिन्मूर्ते विज्वरो भव ॥ १५-७॥

जिसमें यह संसार तरंगों की भाँति स्फुरित होता है वह तू ही है, इसमें सन्देह नहीं है । हे चैतन्य स्वरूप ! तू सन्तापरहित हो। ॥७॥

श्रद्धस्व तात श्रद्धस्व नात्र मोऽहं कुरुष्व भोः ।
ज्ञानस्वरूपो भगवानात्मा त्वं प्रकृतेः परः ॥ १५-८॥

हे तात ! श्रद्धा कर, श्रद्धा कर । इसमें मोह मत कर । तू ज्ञानस्वरूप, भगवान्-स्वरूप आत्मा है तथा प्रकृति से परे है। ॥८॥

गुणैः संवेष्टितो देहस्तिष्ठत्यायाति याति च ।
आत्मा न गन्ता नागन्ता किमेनमनुशोचसि ॥ १५-९॥

गुणों से लिप्त यह शरीर रहता है, आता है और जाता है । किन्तु आत्मा न जाने वाला है, न आने वाला । इसके लिए क्यों सोच करता है। ॥९॥

देहस्तिष्ठतु कल्पान्तं गच्छत्वद्यैव वा पुनः ।
क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्तव चिन्मात्ररूपिणः ॥ १५-१०॥

देह चाहे अन्त तक रहे, चाहे वह अभी चली जाए, तुम चैतन्य-रूप वालों की कहाँ वृद्धि है, कहाँ नाश है। ॥१०॥

त्वय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्ववीचिः स्वभावतः ।
उदेतु वास्तमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः ॥ १५-११॥

तुझ अनन्त महासमुद्र में विश्वरूप तरंग अपने स्वभाव से उदय और अस्त को प्राप्त होती है, किन्तु न तेरी वृद्धि है, न नाश है। ॥११॥

तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत् ।
अतः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥ १५-१२॥

हे तात ! तू चैतन्यरूप है, तेरा यह जगत तुझसे भिन्न नहीं है । इसलिये हेय और उपादेय की कल्पना किसकी, क्योंकर और कहाँ हो सकती है। ॥१२॥

एकस्मिन्नव्यये शान्ते चिदाकाशेऽमले त्वयि ।
कुतो जन्म कुतो कर्म कुतोऽहङ्कार एव च ॥ १५-१३॥

तुझ एक निर्मल, अविनाशी, शान्त और चैतन्यरूप आकाश में कहाँ जन्म है, कहाँ कर्म है और कहाँ अहंकार। ॥१३॥

यत्त्वं पश्यसि तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभाससे ।
किं पृथक् भासते स्वर्णात् कटकाङ्गदनूपुरम् ॥ १५-१४॥

जिसको तू देखता है, उसमें एक तू ही भासता है । क्या कंगन, बाजूबन्द और नूपुर सोने से भिन्न भासते है। ॥१४॥

अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यज ।
सर्वमात्मेति निश्चित्य निःसङ्कल्पः सुखी भव ॥ १५-१५॥

'यह मैं हूँ', 'यह मैं नहीं हूँ' ऐसे विभाग को छोड़ दे । 'सब आत्मा है' ऐसा निश्चय करके तू संकल्परहित हो, सुखी हो। ॥१५॥

तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः ।
त्वत्तोऽन्यो नास्ति संसारी नासंसारी च कश्चन ॥ १५-१६॥

तेरे ही अज्ञान से विश्व है । परमार्थतः तू एक है । तेरे अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है । न संसारी है, न असंसारी है। ॥१६॥

भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी ।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति ॥ १५-१७॥

यह विश्व भ्रान्तिमात्र है और कुछ नहीं है । ऐसा निश्चयपूर्वक जानने वाला वासनारहित और चैतन्यमात्र है । वह ऐसी शान्ति को प्राप्त है मानो कुछ नहीं है। ॥१७॥

एक एव भवाम्भोधावासीदस्ति भविष्यति ।
न ते बन्धोऽस्ति मोक्षो वा कृत्यकृत्यः सुखं चर ॥ १५-१८॥

संसाररूपी समुद्र में तू एक ही था और होगा । तेरा बन्ध और मोक्ष नहीं है । तू कृतकृत्य होकर सुखपूर्वक विचर। ॥१८॥

मा सङ्कल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय ।
उपशाम्य सुखं तिष्ठ स्वात्मन्यानन्दविग्रहे ॥ १५-१९॥

हे चिन्मय ! तू चित्त को संकल्प और विकल्पों से क्षोभित मत कर । शान्त होकर आनन्दपूरित अपने स्वरूप में सुखपूर्वक स्थित हो ।१९।

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किञ्चिद् हृदि धारय ।
आत्मा त्वं मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि ॥ १५-२०॥

सर्वत्र ध्यान को त्यागकर हृदय में कुछ भी धारण मत कर । तू आत्मा मुक्त ही है । तू विमर्श करके क्या करेगा। ॥२०॥

सोलहवाँ प्रकरण

अष्टावक्र उवाच ॥

आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः ।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणाद् ऋते ॥ १६-१॥

हे तात ! अनेक शास्त्रों को अनेक प्रकार से तू कह अथवा सुन लेकिन सब के विस्मरण के बिना तुझे स्वास्थ्य नहीं मिलेगी। ॥१॥

भोगं कर्म समाधिं वा कुरु विज्ञ तथापि ते ।
चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थं रोचयिष्यति ॥ १६-२॥

हे विज्ञ ! भोग, कर्म अथवा समाधि को तू चाहे साधे, तो भी तेरा चित्त स्वभाव से सभी आशयों से रहित होने पर भी अत्यधिक लोभायमान रहेगा। ॥२॥

आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन ।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम् ॥१६-३॥

प्रयास से सब लोग दुःखी हैं, इसको कोई नहीं जानता है । इसी उपदेश से भाग्यवान लोग निर्वाण को प्राप्त होते हैं। ॥३॥

व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि ।
तस्यालस्य धुरीणस्य सुखं नन्यस्य कस्यचित् ॥ १६-४॥

जो आँख के खोलने और ढकने के व्यापार से दुःखी होता है, वह आलसी-शिरोमणि का ही सुख है । दूसरे किसी का नहीं। ॥४॥

इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तं यदा मनः ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत् ॥ १६-५॥

यह किया गया है और यह नहीं किया गया, ऐसे द्वन्द्व से जब मन मुक्त हो तब वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रति उदासीन हो जाता है। ॥५॥

विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः ।
ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान् ॥ १६-६॥

विषय का दोषी विरक्त है । विषयलोलुप रागी है । जो ग्रहण और त्याग दोनों से रहित है वह न विरक्त है, न रागवान है। ॥६॥

हेयोपादेयता तावत्संसारविटपाङ्कुरः ।
स्पृहा जीवति यावद् वै निर्विचारदशास्पदम् ॥१६-७॥

जब तक स्पृहा जीवित है – जो कि अविवेक की दशा है – तब तक हेय और उपादेय भी जीवित है – जो कि संसाररूपी वृक्ष का अंकुर है। ॥७॥

प्रवृत्तौ जायते रागो निर्वृत्तौ द्वेष एव हि ।
निर्द्वन्द्वो बालवद् धीमान् एवमेव व्यवस्थितः ॥ १६-८॥

प्रवृत्ति से राग, व निवृत्ति से द्वेष पैदा होता है । इसलिए बुद्धिमान पुरुष द्वन्द्वमुक्त बालक के समान जैसा है, वैसा ही रहता है। ॥८॥

हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया ।
वीतरागो हि निर्दुःखस्तस्मिन्नपि न खिद्यति ॥ १६-९॥

रागी पुरुष दुःख से बचने के लिए संसार को त्यागना चाहता है लेकिन वीतरागी दुःखमुक्त होकर संसार के बीच भी खेद को प्राप्त नहीं होता। ॥९॥

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा ।
न च ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःखभागसौ ॥ १६-१०॥

जिसका मोक्ष के प्रति अहंकार है और वैसी ही शरीर के प्रति ममता है, वह न तो योगी है, न ज्ञानी है । वह केवल दुःख का भागी है। ॥१०॥

हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा ।
तथापि न तव स्वाथ्यं सर्वविस्मरणादृते ॥ १६-११॥

यदि तेरा उपदेशक शिव है, विष्णु है अथवा ब्रह्मा है तो भी सबके विस्मरण के बिना तुझे स्वास्थ्य नहीं होगी ।११।

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

सत्रहवाँ प्रकरण

अष्टावक्र उवाच ॥

तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा ।
तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यमेकाकी रमते तु यः ॥ १७-१॥

जो पुरुष तृप्त है, शुद्ध इन्द्रियों वाला है और सदा एकाकी रमण करता है उसी को ज्ञान और योगाभ्यास का फल प्राप्त होता है। ॥१॥

न कदाचिज्जगत्यस्मिन् तत्त्वज्ञो हन्त खिद्यति ।
यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥ १७-२॥

हन्त ! तत्त्वज्ञानी इस जगत में कभी खेद को प्राप्त नहीं होता है क्योंकि उसी एक से यह ब्रह्माण्ड मण्डल पूर्ण है। ॥२॥

न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी ।
सल्लकीपल्लवप्रीतमिवेभं निम्बपल्लवाः ॥ १७-३॥

जैसे सल्लकी के पत्तों से प्रसन्न हुए हाथी को नीम के पत्ते हर्षित नहीं करते हैं, वैसे ही ये विषय आत्मा में रमण करने वाले को कभी नहीं हर्षित करते हैं। ॥३॥

यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासितः ।
अभुक्तेषु निराकाङ्क्षी तादृशो भवदुर्लभः ॥ १७-४॥

जो भोगे हुए भोगों में वासना नहीं रखता तथा भोगे हुए विषयों के प्रति आकांक्षा नहीं रखता, ऐसा मनुष्य संसार में दुर्लभ है। ॥४॥

बुभुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते ।
भोगमोक्षनिराकाङ्क्षी विरलो हि महाशयः ॥ १७-५॥

इस संसार में भोग की इच्छा रखने वाले और मोक्ष की इच्छा रखने वाले दोनों देखे जाते हैं, लेकिन भोग और मोक्ष दोनों के प्रति निरकांक्षी विरल महाशय ही मिलेगा। ॥५॥

धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा ।
कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि ॥ १७-६॥

कोई उदारचित्त ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, जीवन और मृत्यु के प्रति हेय-उपादेय का भाव नहीं रखता। ॥६॥

वाञ्छा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ ।
यथा जीविकया तस्माद् धन्य आस्ते यथा सुखम् ॥ १७-७॥

जिसमें विश्व के विलय की इच्छा नहीं है और न उसकी स्थिति के प्रति द्वेष है, इसलिए वह धन्य पुरुष यथाप्राप्य आजीविका से सुखपूर्वक जीता है। ॥७॥

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीः कृती ।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन्नास्ते यथा सुखम् ॥ १७-८॥

इस ज्ञान से कृतार्थ अनुभव कर, गलित हो गयी बुद्धि जिसकी, ऐसा कृतकार्य पुरुष देखता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ सुखपूर्वक रहता है। ॥८॥

शून्या दृष्टिर्वृथा चेष्टा विकलानीन्द्रियाणि च ।
न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसारसागरे ॥ १७-९॥

जिसका संसार सागर क्षीण हो गया है, ऐसे पुरुष में न तृष्णा है, न विरक्ति है । उसकी दृष्टि शून्य हो गयी है, चेष्टा व्यर्थ हो गयी है और इन्द्रियाँ विफल हो गयी हैं। ॥९॥

न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति ।
अहो परदशा क्वापि वर्तते मुक्तचेतसः ॥ १७-१०॥

वह न जागता है, न मरता है, न पलक खोलता है, न पलक बन्द करता है । अहो ! मुक्तचेतस् की कैसी परम दशा होती है। ॥१०॥

सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः ।

समस्तवासना मुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते ॥ १७-११॥

मुक्त पुरुष सर्वत्र स्वस्थ, सर्वत्र विमल आशय वाला दिखाई देता है और सब वासनाओं से रहित सर्वत्र सुशोभित होता है। ॥११॥

पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गृण्हन् वदन् व्रजन् ।
ईहितानीहितैर्मुक्तो मुक्त एव महाशयः ॥ १७-१२॥

देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, ग्रहण करता हुआ, बोलता हुआ, चलता हुआ, हित और अहित से मुक्त महाशय निश्चय ही जीवन मुक्त है। ॥१२॥

न निन्दति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति ।
न ददाति न गृण्हाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः ॥ १७-१३॥

मुक्तपुरुष सर्वत्र रसरहित है । वह न निन्दा करता है, न स्तुति करता है, न हर्षित होता है, न क्रुद्ध होता है, न लेता है, न देता है। ॥१३॥

सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थितम् ।
अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः ॥ १७-१४॥

प्रीतियुक्त स्त्री और समीप में उपस्थित मृत्यु को देखकर जो महाशय अविचलमना और स्वस्थ रहता है, वह निश्चय ही मुक्त है। ॥१४॥

सुखे दुःखे नरे नार्यां सम्पत्सु च विपत्सु च ।

विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः ॥ १७-१५॥

समदर्शी धीर के लिए सुख और दुःख में, नर और नारी में, सम्पत्ति और विपत्ति में कहीं भेद नहीं है। ॥१५॥

न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता ।
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे ॥ १७-१६॥

क्षीण हो गया है संसार जिसका, ऐसे मनुष्य में न हिंसा है, न करुणा है, न उद्दण्डता है, न दीनता, न आश्चर्य है, न क्षोभ। ॥१६॥

न मुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः ।
असंसक्तमना नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नुते ॥ १७-१७॥

मुक्त पुरुष न विषयों से द्वेष करने वाला है, न विषयलोलुप है । सदा आसक्तिरहित मन वाला होकर प्राप्त और अप्राप्त वस्तु का उपभोग करता है। ॥१७॥

समाधानसमाधानहिताहितविकल्पनाः ।
शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः ॥ १७-१८॥

शून्यचित्त पुरुष समाधान और असमाधान के, हित और अहित के विकल्प को नहीं जानता है । वह तो कैवल्य जैसा स्थित है। ॥१८॥

निर्ममो निरहङ्कारो न किञ्चिदिति निश्चितः ।
अन्तर्गलितसर्वाशः कुर्वन्नपि करोति न ॥ १७-१९॥

भीतर से गलित हो गयी हैं आशाएँ जिसकी, और जो निश्चयपूर्वक जानता है कि कुछ भी नहीं है – ऐसा ममतारहित, अहंकारशून्य पुरुष कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता । ॥१९॥

मनःप्रकाशसंमोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः ।
दशां कामपि सम्प्राप्तो भवेद् गलितमानसः ॥ १७-२०॥

जिसका मन गलित हो गया है और जिसके मन में कर्म, मोह, स्वप्न और जड़ता सब समाप्त हो गए हैं, वह पुरुष कैसी अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त होता है। ॥२०॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

अठारहवाँ प्रकरण

अष्टावक्र उवाच ॥

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद् भवति भ्रमः ।
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे ॥ १८-१॥

जिसके उदय होने पर समस्त भ्रान्ति स्वप्न के समान तिरोहित हो जाती है, उस एकमात्र आनन्दस्वरूप, शान्त और तेजोमय को नमस्कार है। ॥१॥

अर्जयित्वाखिलान् अर्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान् ।
न हि सर्वपरित्यागमन्तरेण सुखी भवेत् ॥ १८-२॥

सारे धन कमाकर मनुष्य अतिशय भोगों को पाता है । लेकिन सबके त्याग के बिना सुखी नहीं होता। ॥२॥

कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः ।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम् ॥ १८-३॥

कर्तव्य से पैदा हुए दुःखरूप सूर्य के ताप से जला अन्तर्मन जिसका, ऐसे पुरुष को शान्तिरूपी अमृतधारा की वर्षा के बिना सुख कहाँ है। ॥३॥

भवोऽयं भावनामात्रो न किञ्चित् परमर्थतः ।
नास्त्यभावः स्वभावानां भावाभावविभाविनाम् ॥ १८-४॥

यह संसार भावनामात्र है, परमार्थतः कुछ भी नहीं है । भावरूप और अभावरूप पदार्थों में स्थित स्वभाव का अभाव नहीं है। ॥४॥

न दूरं न च सङ्कोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम् ।
निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरञ्जनम् ॥ १८-५॥

यह आत्मपद न तो दूर है, न संकोच से ही प्राप्त होता है । यह निर्विकल्प, निरायास, निर्विकार और निरञ्जन है। ॥५॥

व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः ।
वीतशोका विराजन्ते निरावरणदृष्टयः ॥ १८-६॥

मोहमात्र से निवृत्त होने पर और अपने स्वरूप के ग्रहण मात्र से वीतशोक और निरावरण दृष्टि वाले पुरुष शोभायमान होते हैं। ॥६॥

समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तः सनातनः ।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत् ॥ १८-७॥

समस्त जगत कल्पना मात्र है और आत्मा मुक्त और सनातन है । ऐसा जानकर धीर पुरुष बालक के समान क्या चेष्टा करता है। ॥७॥

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ ।
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम् ॥ १८-८॥

आत्मा ब्रह्म है और भाव एवं अभाव कल्पित हैं । यह निश्चयपूर्वक जानकर निष्काम पुरुष क्या जानता है, क्या कहता है और क्या करता है। ॥८॥

अयं सोऽहमयं नाहमिति क्षीणा विकल्पना ।
सर्वमात्मेति निश्चित्य तूष्णीम्भूतस्य योगिनः ॥ १८-९॥

सब आत्मा है । ऐसा निश्चयपूर्वक जानकर शान्त हुए योगी की ऐसी कल्पनाएँ कि 'वह मैं हूँ' और 'वह मैं नहीं हूँ' क्षीण हो जाती हैं। ॥९॥

न विक्षेपो न चैकाग्र्यं नातिबोधो न मूढता ।
न सुखं न च वा दुःखमुपशान्तस्य योगिनः ॥ १८-१०॥

अपशान्त हुए योगी के लिए न विक्षेप है और न एकाग्रता है, न अतिबोध है और न मूढ़ता है, न सुख है और न दुःख है। ॥१०॥

स्वाराज्ये भैक्षवृत्तौ च लाभालाभे जने वने ।
निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः ॥ १८-११॥

निर्विकल्प स्वभाव वाले योगी के लिए राज्य और भिक्षावृत्ति में, लाभ और हानि में, समाज और वन में फर्क नहीं है। ॥११॥

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता ।
इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य योगिनः ॥ १८-१२॥

यह किया है और यह अनकिया है इस प्रकार के द्वन्द्व से मुक्त योगी के लिए कहाँ धर्म है, कहाँ काम है, कहाँ अर्थ है, कहाँ विवेक है। ॥१२॥

कृत्यं किमपि नैवास्ति न कापि हृदि रञ्जना ।
यथा जीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः ॥ १८-१३॥

जीवनमुक्त योगी के लिए कर्तव्यकर्म कुछ भी नहीं है और न हृदय में कोई अनुराग है । वह संसार में यथाप्राप्त जीवन जीता है। ॥१३॥

क्व मोहः क्व च वा विश्वं क्व तद् ध्यानं क्व मुक्तता ।
सर्वसङ्कल्पसीमायां विश्रान्तस्य महात्मनः ॥ १८-१४॥

सम्पूर्ण संकल्पों के अन्त होने पर विश्रान्त हुए महात्मा के लिए कहाँ मोह और कहाँ संसार है, कहाँ वह ध्यान है, कहाँ मुक्ति है। ॥१४॥

येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोतु वै ।
निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १८-१५॥

जिसने जगत को देखा है वह भला उसे इनकार भी करे, लेकिन वासनारहित पुरुष को क्या करना है । वह देखता हुआ भी नहीं देखता है। ॥१५॥

येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिन्तयेत् ।
किं चिन्तयति निश्चिन्तो द्वितीयं यो न पश्यति ॥ १८-१६॥

जिसने पर-ब्रह्म को देखा है वह भला 'मैं ब्रह्म हूँ' का चिन्तन भी करे, लेकिन जो निश्चिन्त होकर दूसरा कोई नहीं देखता वह क्या चिन्तन करे। ॥१६॥

दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ ।
उदारस्तु न विक्षिप्तः साध्याभावात्करोति किम् ॥ १८-१७॥

जो आत्मा में विक्षेप देखता है वह भला चित्त का निरोध करे, लेकिन विक्षेपमुक्त उदारपुरुष साध्य के अभाव में क्या करे। ॥१७॥

धीरो लोकविपर्यस्तो वर्तमानोऽपि लोकवत् ।
न समाधिं न विक्षेपं न लोपं स्वस्य पश्यति ॥ १८-१८॥

जो संसार की तरह बरतता हुआ भी संसार से भिन्न है । वह धीर पुरुष न अपनी समाधि को और न बन्धन को ही देखता है। ॥१८॥

भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः ।
नैव किञ्चित्कृतं तेन लोकदृष्ट्या विकुर्वता ॥ १८-१९॥

जो ज्ञानी पुरुष तृप्त है, भाव-अभाव से रहित है, वासना-रहित है वह लोक-दृष्टि से कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता है। ॥१९॥

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः ।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम् ॥ १८-२०॥

धीर पुरुष प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में दुराग्रह नहीं रखता । वह जब कभी भी कुछ करने को आ पड़ता है, उसको करके सुखपूर्वक रहता है ।२०।

निर्वासनो निरालम्बः स्वच्छन्दो मुक्तबन्धनः ।
क्षिप्तः संस्कारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत् ॥ १८-२१॥

ज्ञानी पुरुष वासना-रहित, आलम्बन-रहित, स्वच्छन्द और बन्धन-रहित संसाररूपी वायु से प्रेरित होकर शुष्क पत्ते की भाँति व्यवहार करता है। ॥२१॥

असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादता ।
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजये ॥ १८-२२॥

संसारमुक्त पुरुष को न तो कभी हर्ष होता है, न विषाद । वह शान्तमना सदा विदेह की भाँति शोभता है। ॥२२॥

कुत्रापि न जिहासास्ति नाशो वापि न कुत्रचित् ।
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः ॥ १८-२३॥

आत्मा में रमण करने वाले और शीतल तथा निर्मल चित्त वाले धीर पुरुष की न कहीं त्याग की इच्छा है, न कहीं ग्रहण की आशा है। ॥२३॥

प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया ।
प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानता ॥ १८-२४॥

स्वाभाविक रूप से जो शून्यचित्त है और सहजरूप से जो कर्म करता है, उस धीर पुरुष को सामान्यजन की तरह, न मान है और न अपमान है। ॥२४॥

कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा ।
इति चिन्तानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न ॥ १८-२५॥

यह कर्म शरीर से किया गया है, मुझ शुद्ध स्वरूप द्वारा नहीं । ऐसी चिन्तना का जो अनुगमन करता है, वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता है। ॥२५॥

अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः ।
जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते ॥ १८-२६॥

जीवन्मुक्त, उस सामान्यजन की तरह कर्म करता है, जो कहता कुछ और है और करता कुछ और है, तो वह मूढ़ नहीं होता है और वह सुखी श्रीमान् संसार में रहकर भी शोभायमान होता है। ॥२६॥

नानाविचारसुश्रान्तो धीरो विश्रान्तिमागतः ।

न कल्पते न जाति न शृणोति न पश्यति ॥ १८-२७॥

जो धीर पुरुष अनेक प्रकार के विचारों से थककर शान्ति को उपलब्ध होता है वह न कल्पना करता है, न जानता है, न सुनता है, न देखता है। ॥२७॥

असमाधेरविक्षेपान् न मुमुक्षुर्न चेतरः ।
निश्चित्य कल्पितं पश्यन् ब्रह्मैवास्ते महाशयः ॥ १८-२८॥

महाशय पुरुष विक्षेप-रहित और समाधि-रहित होने के कारण न मुमुक्षु है, न गैर-मुमुक्षु होता है । वह निश्चयपूर्वक संसार को कल्पित देखकर ब्रह्मवत् रहता है। ॥२८॥

यस्यान्तः स्यादहङ्कारो न करोति करोति सः ।
निरहङ्कारधीरेण न किञ्चिदकृतं कृतम् ॥ १८-२९॥

जिसके अन्तःकरण में अहंकार है, वह कर्म नहीं करते हुए भी कर्म करता है और अहंकार-रहित धीर पुरुष कर्म करते हुए भी नहीं करता है। ॥२९॥

नोद्विग्नं न च सन्तुष्टमकर्तृ स्पन्दवर्जितम् ।
निराशं गतसन्देहं चित्तं मुक्तस्य राजते ॥ १८-३०॥

मुक्तपुरुष का उद्वेग-रहित, संतोष-रहित, कर्तव्य-रहित, स्पन्द-रहित, आशा-रहित, सन्देह-रहित चित्त ही शोभायमान है। ॥३०॥

निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्तते ।
निर्निमित्तमिदं किन्तु निर्ध्यायेति विचेष्टते ॥ १८-३१॥

मुक्तपुरुष का चित्त ध्यान या चेष्टा में प्रवृत्त नहीं होता है । लेकिन वह निमित्त या हेतु के बिना ध्यान करता है और कर्म करता है। ॥३१॥

तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मन्दः प्राप्नोति मूढताम् ।
अथवा याति सङ्कोचममूढः कोऽपि मूढवत् ॥ १८-३२॥

मन्दबुद्धि यथार्थत्व को सुनकर मूढ़ता को ही प्राप्त होता है । लेकिन कोई ज्ञानी मूढ़वत् होकर संकोच या समाधि को प्राप्त होता है। ॥३२॥

एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्यते भृशम् ।
धीराः कृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत्स्वपदे स्थिताः ॥ १८-३३॥

अज्ञानी चित्त की एकाग्रता अथवा निरोध का बहुत अभ्यास करता है लेकिन धीर पुरुष सोये हुए व्यक्ति की तरह अपने स्वभाव में स्थिर रहकर कुछ करने योग्य नहीं देखता है। ॥३३॥

अप्रयत्नात् प्रयत्नाद् वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिम् ।
तत्त्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः ॥ १८-३४॥

अज्ञानी पुरुष प्रयत्न अथवा अप्रयत्न से निवृत्ति को प्राप्त नहीं होता है जबकि ज्ञानी पुरुष केवल तत्त्व को निश्चयपूर्वक जानकर ही निवृत्त हो जाता है। ॥३४॥

शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपञ्चं निरामयम् ।
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः ॥ १८-३५॥

इस संसार में अभ्यास परायण पुरुष उस आत्मा को नहीं जान पाते जो शुद्ध, बुद्ध, प्रिय, पूर्ण, प्रपञ्च-रहित और दुःख-रहित है। ॥३५॥

नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा ।
धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः ॥ १८-३६॥

अज्ञानी पुरुष अभ्यासरूपी कर्म से मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है । जबकि क्रिया-रहित ज्ञानी पुरुष केवल ज्ञान के द्वारा मुक्त हुआ स्थिर रहता है। ॥३६॥

मूढो नाप्नोति तद् ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति ।
अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक् ॥ १८-३७॥

अज्ञानी जैसे ब्रह्म होने की इच्छा करता है वैसे ही ब्रह्म नहीं हो पाता है और धीर पुरुष नहीं चाहता हुआ भी निश्चित ही परब्रह्म स्वरूप को भजने वाला होता है। ॥३७॥

निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः ।

एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः ॥ १८-३८॥

इस आधार-रहित, दुराग्रह-युक्त संसार का पोषक अज्ञानी पुरुष ही है। इस अनर्थ के मूल संसार का मूलाच्छेद ज्ञानियों द्वारा किया गया है। ॥३८॥

न शान्तिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति ।
धीरस्तत्त्वं विनिश्चित्य सर्वदा शान्तमानसः ॥ १८-३९॥

अज्ञानी जैसे शान्त होने की इच्छा करता है, वैसे ही वह शान्ति को नहीं प्राप्त होता है किन्तु धीर पुरुष तत्त्व को जानकर सदैव शान्त मन वाला है। ॥३९॥

क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद् दृष्टमवलम्बते ।
धीरास्तं तं न पश्यन्ति पश्यन्त्यात्मानमव्ययम् ॥ १८-४०॥

उसको आत्मा का दर्शन कहाँ जो दृश्य का अवलम्बन करता है। धीर पुरुष दृश्य को नहीं देखते हैं। वे अविनाशी आत्मा को देखते हैं।४०।

क्व निरोधो विमूढस्य यो निर्बन्धं करोति वै ।
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदासावकृत्रिमः ॥ १८-४१॥

जो हठपूर्वक चित्त का निरोध करता है, उस अज्ञानी को कहाँ चित्त का निरोध है । स्वयं में रमण करने वाले धीर पुरुष के लिए यह चित्त का निरोध स्वाभाविक है। ॥४१॥

भावस्य भावकः कश्चिन् न किञ्चिद् भावकोपरः ।
उभयाभावकः कश्चिद् एवमेव निराकुलः ॥ १८-४२॥

कोई भाव को मानने वाला है और कोई 'कुछ भी नहीं है' ऐसा मानने वाला है । वैसे ही कोई दोनों को मानने वाला है । वैसे ही कोई दोनों को नहीं मानने वाला है और वही स्वस्थचित्त है। ॥४२॥

शुद्धमद्वयमात्मानं भावयन्ति कुबुद्धयः ।
न तु जानन्ति संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः ॥ १८-४३॥

कुबुद्धि पुरुष शुद्ध अद्वैत आत्मा की भावना करते हैं लेकिन मोहवश उसे नहीं जानते हैं इसलिए जीवन भर सुखरहित रहते हैं। ॥४३॥

मुमुक्षोर्बुद्धिरालम्बमन्तरेण न विद्यते ।
निरालम्बैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा ॥ १८-४४॥

मुमुक्षु पुरुष की बुद्धि आलम्बन के बिना नहीं रहती । मुक्तपुरुष की बुद्धि सदा निष्काम और निरालम्ब रहती है। ॥४४॥

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः ।
विशन्ति झटिति क्रोडं निरोधैकाग्रसिद्धये ॥ १८-४५॥

विषयरूपी बाघ को देखकर भयभीत हुआ मनुष्य शरण की खोज में शीघ्र ही चित्त के निरोध और एकाग्रता की सिद्धि के लिए पहाड़ की गुफा में प्रवेश करता है। ॥४५॥

निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः ।
पलायन्ते न शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः ॥ १८-४६॥

वासना-रहित पुरुष-सिंह को देखकर विषयरूपी हाथी चुपचाप भाग जाते हैं या वे असमर्थ होकर चाटुकार की तरह उसकी सेवा करने लगते हैं। ॥४६॥

न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशङ्को युक्तमानसः ।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम् ॥ १८-४७॥

शंकारहित और मुक्त मन वाला पुरुष मुक्तिकारी योग को आग्रह के साथ नहीं ग्रहण करता है लेकिन वह देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ सुखपूर्वक रहता है। ॥४७॥

वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः ।
नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा प्रपश्यति ॥ १८-४८॥

यथार्थ ज्ञान के सुनने मात्र से शुद्ध बुद्धि और स्वस्थ चित्त हुआ पुरुष न आचार को, न अनाचार को, न उदासीन को देखता है। ॥४८॥

यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः ।
शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत् ॥ १८-४९॥

धीर पुरुष जब कुछ शुभ या अशुभ करने को आ पड़ता है तो उसे सहजता के साथ करता है, क्योंकि उसका व्यवहार बालवत् होता है। ॥४९॥

स्वातन्त्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातन्त्र्याल्लभते परम् ।
स्वातन्त्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत्स्वातन्त्र्यात् परमं पदम् ॥ १८-५०॥

धीर पुरुष स्वतंत्रता से सुख को प्राप्त होता है, स्वतंत्रता से परम को प्राप्त होता है, स्वतंत्रता से नित्यसुख को प्राप्त होता है और स्वतंत्रता से परमपद को प्राप्त होता है। ॥५०॥

अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं स्वात्मनो मन्यते यदा ।
तदा क्षीणा भवन्त्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः ॥ १८-५१॥

जब मनुष्य अपनी आत्मा के अकर्त्तापन और अभोक्तापन को मानता है तब उसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का नाश हो जाता है। ॥५१॥

उच्छृङ्खलाप्यकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते ।
न तु सस्पृहचित्तस्य शान्तिर्मूढस्य कृत्रिमा ॥ १८-५२॥

धीर पुरुष की स्वाभाविक उच्छ्रृंखल स्थिति भी शोभती है लेकिन स्पृहायुक्त चित्त वाले मूढ़ की बनावटी शान्ति भी नहीं शोभती। ॥५२॥

विलसन्ति महाभोगैर्विशन्ति गिरिगह्वरान् ।
निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः ॥ १८-५३॥

कल्पना-रहित, बन्धन-रहित और मुक्त बुद्धि वाले धीर पुरुष कभी बड़े-बड़े भोगों के साथ क्रीड़ा करते हैं और कभी पहाड़ की कन्दराओं में प्रवेश करते हैं। ॥५३॥

श्रोत्रियं देवतां तीर्थमङ्गनां भूपतिं प्रियम् ।
दृष्ट्वा सम्पूज्य धीरस्य न कापि हृदि वासना ॥ १८-५४॥

धीर पुरुष के हृदय में पण्डित, देवता और तीर्थ का पूजन करके तथा स्त्री, राजा और प्रियजन को देखकर कोई भी वासना नहीं होती। ॥५४॥

भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः ।
विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक् ॥ १८-५५॥

योगी नौकरों से, पुत्रों से, पत्नियों से, दोहित्रों और बान्धवों द्वारा हँसकर धिक्कारे जाने पर भी विकार को प्राप्त नहीं होता है ।५५।

सन्तुष्टोऽपि न सन्तुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते ।
तस्याश्चर्यदशां तां तां तादृशा एव जानते ॥ १८-५६॥

धीर पुरुष सन्तुष्ट होकर भी सन्तुष्ट नहीं होता है और दुःखी होकर भी दुःखी नहीं होता है । उसकी इस आश्चर्यमय दशा को वैसे ही ज्ञानी जानते हैं। ॥५६॥

कर्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः ।
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः ॥ १८-५७॥

कर्तव्य ही संसार है, उसे शून्याकार, निराकार, निर्विकार और निरामय ज्ञानी नहीं देखते हैं। ॥५७॥

अकुर्वन्नपि सङ्क्षोभाद् व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः ।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः ॥ १८-५८॥

अज्ञानी कर्मों को नहीं करता हुआ भी सर्वत्र विक्षोभ के कारण व्याकुल रहता है और ज्ञानी सब कर्मों को करता हुआ भी शान्तचित्त वाला ही होता है। ॥५८॥

सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च ।
सुखं वक्ति सुखं भुङ्क्ते व्यवहारेऽपि शान्तधीः ॥ १८-५९॥

शान्त बुद्धि वाला ज्ञानी व्यवहार में भी सुखपूर्वक बैठता है, सुखपूर्वक आता है और मर जाता है, सुखपूर्वक बोलता है और सुखपूर्वक भोजन करता है। ॥५९॥

स्वभावाद्यस्य नैवार्तिर्लोकवद् व्यवहारिणः ।
महाहृद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः सुशोभते ॥ १८-६०॥

जो ज्ञानी स्वभाव से व्यवहार में भी सामान्यजन की तरह नहीं व्यवहार करता है और महासरोवर की तरह क्लेशरहित है, वही शोभता है। ॥६०॥

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्ति रुपजायते ।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी ॥ १८-६१॥

मूर्ख मनुष्य की निवृत्ति भी प्रवृत्तिरूप हो जाती है । किन्तु धीर पुरुष की प्रवृत्ति भी निवृत्ति के समान फल देती है। ॥६१॥

परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते ।
देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता ॥ १८-६२॥

मूढ़ पुरुष का वैराग्य परिग्रह से देखा जाता है । लेकिन देह में गलित हो गयी है आशा जिसकी, ऐसे ज्ञानी को कहाँ राग है, कहाँ वैराग्य। ॥६२॥

भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढस्य सर्वदा ।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थस्यादृष्टिरूपिणी ॥ १८-६३॥

मूर्ख पुरुष की दृष्टि सदा भावना और अभावना में लगी रहती है । जबकि स्वस्थित पुरुष की दृष्टि भावना-अभावना से युक्त रहकर भी उनके प्रति अदृष्टि रूप ही रहती है। ॥६३॥

सर्वारम्भेषु निष्कामो यश्चरेद् बालवन् मुनिः ।

न लेपस्तस्य शुद्धस्य क्रियमाणेऽपि कर्मणि ॥ १८-६४॥

जो मुनि बालक के समान व्यवहार करता है एवं कामना-रहित रूप से सभी कर्मों का आरम्भ करता है, उस शुद्ध स्वरूप को क्रियमाण कर्म भी लिप्त नहीं करते हैं। ॥६४॥

स एव धन्य आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः ।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन्निस्तर्षमानसः ॥ १८-६५॥

वही आत्मज्ञानी धन्य है जो मन का निस्तरण कर गया है और जो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ सब भावों में एकरस है। ॥६५॥

क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम् ।
आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्य सर्वदा ॥ १८-६६॥

सदैव आकाश के समान निर्विकल्प ज्ञानी को कहाँ संसार है, कहाँ आभास है, कहाँ साध्य है, कहाँ साधन है। ॥६६॥

स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः ।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते ॥ १८-६७॥

वही सन्यासी जय को प्राप्त होता है जो पूर्णानन्दस्वरूप है तथा जिसकी समाधि अविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहती है। ॥६७॥

बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्त्वो महाशयः ।

भोगमोक्षनिराकाङ्क्षी सदा सर्वत्र नीरसः ॥ १८-६८॥

यहाँ बहुत कहने से क्या प्रयोजन है ? तत्त्व-ज्ञानी महाशय भोग और मोक्ष दोनों में निरकांक्षी, सदा और सर्वत्र रागरहित रहता है। ॥६८॥

महदादि जगद्द्वैतं नाममात्रविजृम्भितम् ।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते ॥ १८-६९॥

महत्तत्व आदि जो द्वैत-जगत है वह नाम मात्र को ही भिन्न है । उसका त्याग कर देने के बाद शुद्ध बोध वाले का कौन सा कार्य शेष रह जाता है। ॥६९॥

भ्रमभूतमिदं सर्वं किञ्चिन्नास्तीति निश्चयी ।
अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति ॥ १८-७०॥

यह समस्त जगत-प्रपञ्च कुछ नहीं है, ऐसा निश्चयपूर्वक जानकर अलक्ष्य की स्फुरण वाला शुद्ध पुरुष स्वभाव से ही शान्त होता है। ॥७०॥

शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः ।
क्व विधिः क्व च वैराग्यं क्व त्यागः क्व शमोऽपि वा ॥ १८-७१॥

दृश्यभाव को नहीं देखते हुए शुद्ध स्फुरणरूप का अनुभव करने वाले को कहाँ विधि है और कहाँ वैराग्य है । कहाँ त्याग है और कहाँ शान्ति है। ॥७१॥

स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः ।
क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः क्व हर्षः क्व विषादिता ॥ १८-७२॥

और अनन्त रूपों में स्फुरित प्रकृति को नहीं देखते हुए ज्ञानी को कहाँ बन्ध है और कहाँ मोक्ष है । कहाँ हर्ष है और कहाँ शोक है। ॥७२॥

बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्तते ।
निर्ममो निरहङ्कारो निष्कामः शोभते बुधः ॥ १८-७३॥

बुद्धिपर्यन्त संसार में जहाँ माया ही माया भासती है वहाँ ममतारहित, अहंकार-रहित और कामनारहित ज्ञानी ही शोभता है। ॥७३॥

अक्षयं गतसन्तापमात्मानं पश्यतो मुनेः ।
क्व विद्या च क्व वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा ॥ १८-७४॥

अविनाशी और सन्तापरहित आत्मा को देखने वाले मुनि को कहाँ विद्या है और कहाँ विश्व । कहाँ देह है और कहाँ अहंता-ममता है। ॥७४॥

निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि ।
मनोरथान् प्रलापांश्च कर्तुमाप्नोत्यतत्क्षणात् ॥ १८-७५॥

यदि जड़ बुद्धि मनुष्य निरोध आदि कर्मों को छोड़ता भी है तो वह तत्क्षण मनोरथों और प्रलापों को पूरा करने में प्रवृत्त हो जाता है। ॥७५॥

मन्दः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम् ।
निर्विकल्पो बहिर्यत्नादन्तर्विषयलालसः ॥ १८-७६॥

मन्द बुद्धि उस तत्त्व को सुनकर भी मूढ़ता को नहीं छोड़ता है । वह बाह्य प्रयत्न में निर्विकल्प होकर मन में विषयों की लालसा वाला होता है। ॥७६॥

ज्ञानाद् गलितकर्मा यो लोकदृष्ट्यापि कर्मकृत् ।
नाप्नोत्यवसरं कर्तुं वक्तुमेव न किञ्चन ॥ १८-७७॥

ज्ञान से नष्ट हुआ है कर्म जिसका, ऐसा ज्ञानी लोक-दृष्टि में कर्म करने वाला भी है लेकिन वह न कुछ करने का अवसर पाता है, न कुछ कहने का ही। ॥७७॥

क्व तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किञ्चन ।
निर्विकारस्य धीरस्य निरातङ्कस्य सर्वदा ॥ १८-७८॥

सर्वदा निर्भय और निर्विकार धीर पुरुष को कहाँ अन्धकार है, कहाँ प्रकाश है और कहाँ त्याग है । कहीं कुछ भी नहीं है। ॥७८॥

क्व धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व निरातङ्कतापि वा ।
अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः ॥ १८-७९॥

अनिर्वचनीय स्वभाव वाले स्वभावरहित योगी को कहाँ धीरता है, कहाँ विवेकिता अथवा कहाँ निर्भयता है। ॥७९॥

न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि ।
बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्ट्या न किञ्चन ॥ १८-८०॥

योगी को न स्वर्ग है, न नरक है, न जीवनमुक्ति ही है । इसमें बहुत कहने से क्या प्रयोजन, योग की दृष्टि से कुछ भी नहीं है। ॥८०॥

नैव प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचति ।
धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम् ॥ १८-८१॥

धीर पुरुष का चित्त अमृत से पूरित हुआ शीतल है । इसलिए न वह लाभ के लिए प्रार्थना करता है और न ही हानि के लिए कभी चिन्ता करता है। ॥८१॥

न शान्तं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निन्दति ।
समदुःखसुखस्तृप्तः किञ्चित् कृत्यं न पश्यति ॥ १८-८२॥

निष्काम पुरुष न तो शान्त पुरुष की प्रशंसा करता है, न दुष्ट को देखकर निन्दा करता है । वह सुख-दुःख को समान समझता हुआ तृप्त है। ॥८२॥

धीरो न द्वेष्टि संसारमात्मानं न दिदृक्षति ।
हर्षामर्षविनिर्मुक्तो न मृतो न च जीवति ॥ १८-८३॥

धीर पुरुष न संसार के प्रति द्वेष करता है और न आत्मा को देखने की इच्छा करता है । हर्ष और शोक से मुक्त वह, न मरे हुए जैसा है और न जीवित जैसा ॥८३ ॥

निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च ।
निश्चिन्तः स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः ॥ १८-८४॥

पुत्र, स्त्री आदि के प्रति स्नेह न रखता हुआ और विषयों में कामनारहित हुआ, अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं करता हुआ ज्ञानी पुरुष सभी आशाओं से मुक्त शोभा देता है। ॥८४ ॥

तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्तिनः ।
स्वच्छन्दं चरतो देशान् यत्रस्तमितशायिनः ॥ १८-८५॥

यथाप्राप्य से जीविका चलाने वाला, देशों में स्वच्छन्दता से विचरण करने वाला, जहाँ सूर्यास्त हो वहाँ शयन करने वाला धीर पुरुष सर्वत्र सन्तुष्ट है। ॥८५॥

पततूदेतु वा देहो नास्य चिन्ता महात्मनः ।
स्वभावभूमिविश्रान्तिविस्मृताशेषसंसृतेः ॥ १८-८६॥

जो निज स्वभाव रूपी भूमि में विश्राम करता है और जिसे संसार विस्मृत हो गया है, उस महात्मा को इस बात की चिन्ता नहीं है कि देह रहे या जाए । ॥८६॥

अकिञ्चनः कामचारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः ।
असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः ॥ १८-८७॥

अकिञ्चन, स्वच्छन्द विचरण करने वाला, द्वन्द्वरहित, संशयरहित, आसक्तिरहित और अकेला बुद्ध पुरुष ही सब भावों में रमण करता है । ॥८७॥

निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
सुभिन्नहृदयग्रन्थिर्विनिर्धूतरजस्तमः ॥ १८-८८॥

जो ममता रहित है उसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना समान है । जिसके हृदय की ग्रन्थि टूट गयी है और जिसका रज-तम धुल गया है वह धीर पुरुष ही शोभता है। ॥८८॥

सर्वत्रानवधानस्य न किञ्चिद् वासना हृदि ।
मुक्तात्मनो वितृप्तस्य तुलना केन जायते ॥ १८-८९॥

जो सर्वत्र व्यवधान से मुक्त उदासीन है और जिसके हृदय में कुछ भी वासना नहीं है । ऐसे तृप्त हुए मुक्तात्मा की किसके साथ तुलना हो सकती है। ॥८९॥

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
ब्रुवन् अपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते ॥ १८-९०॥

वासनारहित पुरुष के अतिरिक्त दूसरा कौन है जो जानता हुआ भी नहीं जानता है, देखता हुआ भी नहीं देखता है, बोलता हुआ भी नहीं बोलता है। ॥९०॥

भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते ।
भावेषु गलिता यस्य शोभनाशोभना मतिः ॥ १८-९१॥

जिसकी सब भावों में शोभन, अशोभन बुद्धि गलित हो गयी है और जो निष्काम है, वही शोभायमान है, चाहे वह भिखारी हो या भूपति। ॥९१॥

क्व स्वाच्छन्द्यं क्व सङ्कोचः क्व वा तत्त्वविनिश्चयः ।
निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः ॥ १८-९२॥

निष्कपट, सरल और यथार्थ चरित्र वाले योगी को कहाँ स्वच्छन्दता है, कहाँ संकोच है और कहाँ तत्त्व का निश्चय है। ॥९२॥

आत्मविश्रान्तितृप्तेन निराशेन गतार्तिना ।
अन्तर्यदनुभूयेत तत् कथं कस्य कथ्यते ॥ १८-९३॥

आत्मा में विश्राम कर तृप्त हुए आशारहित और शोकरहित ज्ञानी के अन्तस् में जो अनुभव होता है उसे कैसे और किसको कहा जाए। ॥९३॥

सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शयितो न च ।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदे पदे ॥ १८-९४॥

जो सोया हुआ भी सुषुप्त नहीं है, और न स्वप्न में भी सोया हुआ है, जाग्रत में भी नहीं जागा हुआ है, वही धीर पुरुष क्षण-क्षण तृप्त है। ॥९४॥

ज्ञः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रियः ।
सुबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहङ्कारोऽनहङ्कृतिः ॥ १८-९५॥

ज्ञानी चिन्तायुक्त भी चिन्तारहित है, इन्द्रियों सहित भी इन्द्रियों रहित है, बुद्धिसहित भी बुद्धिरहित है तथा अहंकारयुक्त भी अहंकाररहित है। ॥९५॥

न सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न सङ्गवान् ।
न मुमुक्षुर्न वा मुक्ता न किञ्चिन्न च किञ्चन ॥ १८-९६॥

ज्ञानी न सुखी है, न दुःखी है, न विरक्त है, न संगयुक्त है, न मुमुक्षु है, न मुक्त है, न किञ्चन है, न अकिञ्चन। ॥९६॥

विक्षेपेऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिमान् ।
जाड्येऽपि न जडो धन्यः पाण्डित्येऽपि न पण्डितः ॥ १८-९७॥

धन्य पुरुष विक्षेप में भी विक्षिप्त नहीं होता, समाधि में भी समाधि वाला नहीं है, जड़ता में भी जड़ नहीं है, पाण्डित्य में भी पण्डित नहीं है। ॥९७॥

मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्तव्यनिर्वृतः ।
समः सर्वत्र वैतृष्ण्यान्न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥ १८-९८॥

मुक्त पुरुष सब स्थितियों में स्वस्थ है, किये हुए और करने योग्य कर्म में तृप्त है, सर्वत्र समान है, तृष्णा के अभाव में किये और अनकिये कर्म को स्मरण नहीं करता है। ॥९८॥

न प्रीयते वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यति ।
नैवोद्विजति मरणे जीवने नाभिनन्दति ॥ १८-९९॥

मुक्तपुरुष न स्तुति किये जाने पर प्रसन्न होता है, न निन्दित होने पर क्रुद्ध होता है । न मृत्यु में उद्विग्न होता है, न जीवन में हर्षित होता। ॥९९॥

न धावति जनाकीर्णं नारण्यमुपशान्तधीः ।
यथातथा यत्रतत्र सम एवावतिष्ठते ॥ १८-१००॥

शान्त बुद्धि वाला पुरुष न लोगों से भरे नगर की ओर भागता है, न वन की ओर ही । वह सभी स्थिति और सभी स्थान में समभाव से ही स्थित रहता है। ॥१००॥

॥ श्री हरि: ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

उन्नीसवाँ प्रकरण

जनक उवाच ॥

तत्त्वविज्ञानसन्दंशमादाय हृदयोदरात् ।
नाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतो मया ॥ १९-१॥

राजा जनक बोले – "मैंने आपके तत्त्वज्ञानरूपी संसी को लेकर हृदय और उदर से अनेक प्रकार के विचाररूपी बाणों को निकाल दिया है"। ॥१॥

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता ।
क्व द्वैतं क्व च वाऽद्वैतं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ १९-२॥

अपनी महिमा में स्थित मुझको कहाँ धर्म है, कहाँ काम है, कहाँ अर्थ है, कहाँ विवेकिता है, कहाँ द्वैत है और कहाँ अद्वैत है। ॥२॥

क्व भूतं क्व भविष्यद् वा वर्तमानमपि क्व वा ।
क्व देशः क्व च वा नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ १९-३॥

नित्य अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहाँ भूत है, कहाँ भविष्य है, कहाँ वर्तमान है अथवा देश भी कहाँ है। ॥३॥

क्व चात्मा क्व च वानात्मा क्व शुभं क्वाशुभं यथा ।
क्व चिन्ता क्व च वाचिन्ता स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥१९-४॥

अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहाँ आत्मा है और कहाँ अनात्मा अथवा कहाँ शुभ है, कहाँ अशुभ है, कहाँ चिन्ता है अथवा कहाँ अचिन्ता है। ॥४॥

क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा ।
क्व तुरीयं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ १९-५॥

अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहाँ स्वप्न, कहाँ सुषुप्ति, कहाँ जाग्रत और कहाँ तुरीय अवस्था का भय है। ॥५॥

क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यन्तरं क्व वा ।
क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ १९-६॥

अपनी महिमा में स्थित मुझको कहाँ दूर है, कहाँ समीप है, कहाँ बाह्य है, कहाँ अभ्यन्तर है, स्थूल कहाँ है और सूक्ष्म कहाँ है। ॥६॥

क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकम् ।
क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ १९-७॥

अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहाँ मृत्यु है अथवा कहाँ जीवन है । कहाँ लोक है व कहाँ इसका लौकिक व्यवहार है । कहाँ लय है और कहाँ समाधि। ॥७॥

अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाप्यलम् ।
अलं विज्ञानकथया विश्रान्तस्य ममात्मनि ॥ १९-८॥

अपनी आत्मा में विश्रान्त हुए मुझको त्रिवर्ग की कथा पर्याप्त है, योग की कथा भी पर्याप्त है, विज्ञान की कथा भी पर्याप्त है। ॥८॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ अष्टावक्रगीता ॥

बीसवाँ प्रकरण

जनक उवाच ॥

क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेन्द्रियाणि क्व वा मनः ।
क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरञ्जने ॥ २०-१॥

मेरे निरञ्जन स्वरूप में कहाँ पंचभूत हैं, कहाँ देह है, कहाँ इन्द्रियाँ हैं अथवा कहाँ मन है, कहाँ शून्य है और कहाँ नैराश्य है। ॥१॥

क्व शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः ।
क्व तृप्तिः क्व वितृष्णात्वं गतद्वन्द्वस्य मे सदा ॥ २०-२॥

सदा द्वन्द्वरहित मुझको कहाँ शास्त्र, कहाँ आत्मविज्ञान है, कहाँ विषयरहित मन है, कहाँ तृप्ति है, कहाँ तृष्णा का अभाव है। ॥२॥

क्व विद्या क्व च वाविद्या क्वाहं क्वेदं मम क्व वा ।
क्व बन्ध क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपिता ॥ २०-३॥

स्व स्वरूप की कहाँ रूपिता है, कहाँ विद्या है और कहाँ अविद्या है, कहाँ 'मैं' है अथवा कहाँ 'यह' है, कहाँ 'मेरा' है, कहाँ बन्ध है अथवा कहाँ मोक्ष है। ॥३॥

क्व प्रारब्धानि कर्माणि जीवन्मुक्तिरपि क्व वा ।
क्व तद् विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा ॥ २०-४॥

मुझ सदैव निर्विशेष को प्रारब्ध कर्म कहाँ अथवा कहाँ जीवन्मुक्ति है और कहाँ यह विदेह कैवल्य ही है। ॥४॥

क्व कर्ता क्व च वा भोक्ता निष्क्रियं स्फुरणं क्व वा ।
क्वापरोक्षं फलं वा क्व निःस्वभावस्य मे सदा ॥ २०-५॥

सदा स्वभावरहित मुझको कहाँ कर्त्तापन है और कहाँ भोक्तापन । कहाँ निष्क्रियता है और कहाँ स्फुरण है । कहाँ अपरोक्ष ज्ञान है अथवा कहाँ फल है। ॥५॥

क्व लोकं क्व मुमुक्षुर्वा क्व योगी ज्ञानवान् क्व वा ।
क्व बद्धः क्व च वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥२०-६॥

मुझ अद्वय स्वरूप को कहाँ लोक है अथवा कहाँ मुमुक्षु है । कहाँ योगी है, कहाँ ज्ञानवान है अथवा कहाँ बद्ध है और कहाँ मुक्त। ॥६॥

क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनम् ।
क्व साधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥ २०-७॥

मुझ अद्वय स्वरूप को कहाँ सृष्टि और कहाँ संहार । कहाँ साध्य है और कहाँ साधन है । कहाँ साधक है अथवा कहाँ सिद्धि है। ॥७॥

क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रमा ।
क्व किञ्चित् क्व न किञ्चिद् वा सर्वदा विमलस्य मे ॥ २०-८॥

सर्वदा विमालरूप मुझको कहाँ प्रमाता, कहाँ प्रमाण, कहाँ प्रमेय और कहाँ प्रमा है । कहाँ किंचित् है और कहाँ अकिंचित् है। ॥८॥

क्व विक्षेपः क्व चैकाग्र्यं क्व निर्बोधः क्व मूढता ।
क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे ॥ २०-९॥

सर्वदा क्रियारहित मुझको कहाँ एकाग्रता, कहाँ ज्ञान, कहाँ मूढ़ता, कहाँ हर्ष और कहाँ विषाद है। ॥९॥

क्व चैष व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता ।
क्व सुखं क्व च वा दुखं निर्विमर्शस्य मे सदा ॥ २०-१०॥

सदा निर्विकाररूप मुझको कहाँ यह व्यवहार है और कहाँ वह परमार्थता है । कहाँ सुख है अथवा कहाँ दुःख है। ॥१०॥

क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिर्विरतिः क्व वा ।
क्व जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे ॥ २०-११॥

मुझ सदा विमलस्वरूप को कहाँ माया और कहाँ संसार है । कहाँ प्रीति है अथवा कहाँ विरति है । कहाँ जीव है और कहाँ ब्रह्म है। ॥११॥

क्व प्रवृत्तिर्निर्वृत्तिर्वा क्व मुक्तिः क्व च बन्धनम् ।
कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा ॥ २०-१२॥

सर्वदा कूटस्थ, अखण्डरूप और स्वस्थ मुझको कहाँ निवृत्ति है, कहाँ मुक्ति है और कहाँ बन्ध है। ॥१२॥

क्वोपदेशः क्व वा शास्त्रं क्व शिष्यः क्व च वा गुरुः ।
क्व चास्ति पुरुषार्थो वा निरुपाधेः शिवस्य मे ॥ २०-१३॥

उपाधिरहित शिवरूप मुझको कहाँ उपदेश है, कहाँ शास्त्र है, कहाँ शिष्य है, कहाँ गुरु है और कहाँ पुरुषार्थ है। ॥१३॥

क्व चास्ति क्व च वा नास्ति क्वास्ति चैकं क्व च द्वयम् ।
बहुनात्र किमुक्तेन किञ्चिन्नोत्तिष्ठते मम ॥ २०-१४॥

कहाँ अस्ति है और कहाँ नास्ति । कहाँ एक है अथवा कहाँ दो है । इसमें बहुत कहने से क्या प्रयोजन, मुझको तो कुछ भी नहीं उठ रहा है। ॥१४॥

॥ इति अष्टावक्रगीता समाप्ता॥

॥ ॐ तत्सत् ॥